ईशावास्योपनिषत्

तत्त्वविवेचनीहिन्दीव्याख्यासहित

व्याख्याकार

स्वामी त्रिभुवनदास

ईशावास्योपनिषत्

ISHAVASYOPANISAT

॥श्रीः॥
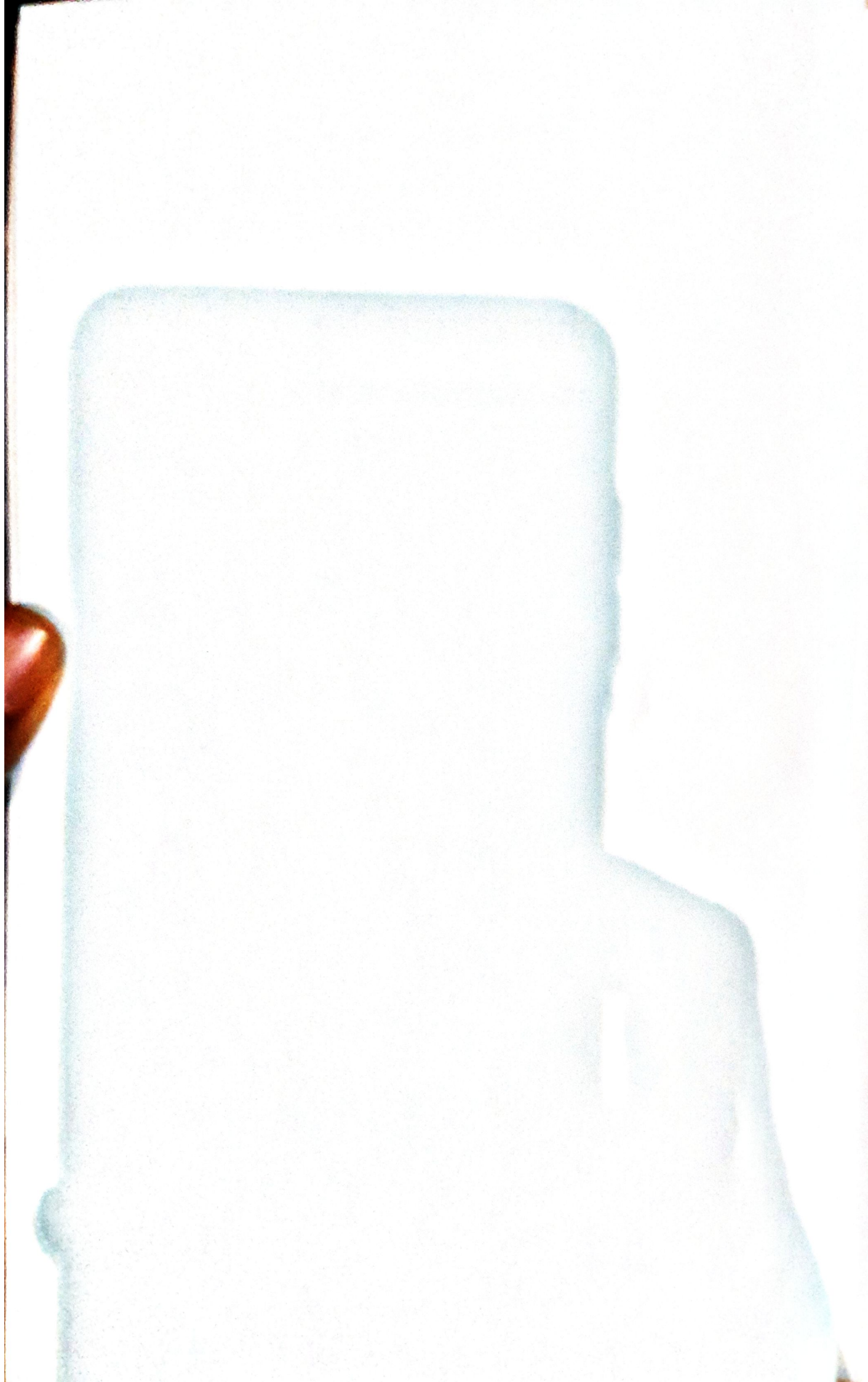
व्रजजीवन प्राच्यभारती ग्रन्थमाला
१७६

ईशावास्योपनिषत्

(तत्त्वविवेचनी हिन्दीव्याख्यासहित)

व्याख्याकार
स्वामी त्रिभुवनदास

चौखम्बा संस्कृत प्रतिष्ठान
दिल्ली

ईशावास्योपनिषत्

प्रकाशक
चौखम्बा संस्कृत प्रतिष्ठान
(भारतीय संस्कृति एवं साहित्य के प्रकाशक तथा वितरक)
३८ यू. ए. जवाहर नगर, बंगलो रोड
पो. बा. नं. 2113, दिल्ली - 110007
दूरभाष : (011) 23856391, 41530902

प्रथम संस्करण 2014
पृष्ठ : XXXII+100
मूल्य : ₹ 100.00

अन्य प्राप्तिस्थान :

चौखम्बा विद्याभवन
चौक (बैंक ऑफ बड़ौदा भवन के पीछे)
पो. बा. नं. 1069
वाराणसी - 221001

❖

चौखम्बा सुरभारती प्रकाशन
के. 37/117 गोपाल मन्दिर लेन
पो. बा. नं. 1129
वाराणसी - 221001

❖

चौखम्बा पब्लिशिंग हाउस
4697/2, भू-तल (ग्राउण्ड फ्लोर)
गली नं. 21-ए, अंसारी रोड़
दरियागंज, नई दिल्ली - 110002

ISBN : 978-81-7084-595-5

सम्पादन सहयोग - स्वामी महेशानन्द

मुद्रक :
ए. के. लिथोग्राफर्स, दिल्ली

THE

VAJRAJIVAN PRACHYABHARATI GRANTHAMALA

176

ISHAVASYOPANISAT

with 'Tattvavivechani' Hindi Commentary

by

Swami Tribhuvanadas

CHAUKHAMBA SANSKRIT PRATISHTHAN

DELHI

Ishavasyopanisat

Publishers :
CHAUKHAMBA SANSKRIT PRATISHTHAN
38 U. A., Bungalow Road, Jawahar Nagar
Post Box No. 2113
Delhi 110007
Phone : (011) 23856391, 41530902
E-mail : cspdel.sales@gmail.com

First Edition : 2014
Pages : XXXII+100
Price : ₹ 100.00

Also can be had from :
CHOWKHAMBA VIDYABHAWAN
Chowk (Behind The Bank of Baroda Building)
Post Box No. 1069
Varanasi 221001

CHAUKHAMBA SURBHARATI PRAKASHAN
K. 37/117 Gopal Mandir Lane
Post Box No. 1129
Varanasi 221001

CHAUKHAMBA PUBLISHING HOUSE
4697/2, Ground Floor, Street No. 21-A
Ansari Road, Darya Ganj
New Delhi 110002

ISBN : 978-81-7084-595-5

Editorial Assistance - Swami Maheshananda

Printed by :
A. K. Lithographers, Delhi

आत्मनिवेदन

'विशिष्टाद्वैत वेदान्तका विस्तृत विवेचन' ग्रन्थके लेखनकालमें कुछ विद्वान् महापुरुषों ने उपनिषदोंकी हिन्दी व्याख्या लिखनेका अनुरोध किया था। उसके प्रकाशनके पश्चात् प्रभुप्रेरणासे प्रेरित होकर ईशावास्योपनिषत्की तत्त्वविवेचनी व्याख्याका प्रणयन हुआ है। मैंने व्याकरण तथा वेदान्तके अप्रतिम विद्वान् पण्डित श्रीरामवदनजी शुक्ल और वीतराग-परमहंस, दार्शनिक सार्वभौम स्वामी शंकारानन्द सरस्वतीजी से विशिष्टाद्वैत वेदान्तका अध्ययन किया था। अनन्तश्रीविभूषित श्रोत्रियब्रह्मनिष्ठ वेदान्तविद्याप्रवीण स्वामी मधुसूदनाचार्य व्याकरणवेदान्ताचार्य (भूतपूर्व वेदान्त विभागाध्यक्ष, श्रीरङ्गलक्ष्मी आदर्श संस्कृतमहाविद्यालय, वृन्दावन) ने कृपापूर्वक इस व्याख्या ग्रन्थका अवलोकन करके उपयोगी बनानेके लिए अनेक सत्परामर्श प्रदान किए। पूज्य गुरुदेव अनन्तश्रीविभूषित ब्रह्मविद्वरिष्ठ महान्त श्रीस्वामी नृत्यगोपालदासजी महाराज और परम सुहृद् अनन्तश्रीविभूषित भक्तिशास्त्रमर्मज्ञ श्रीमद्भागवतप्रवक्ता श्रीमलूकपीठाधीश्वर श्रीराजेन्द्रदासजी महाराज ये दोनों महापुरुष मेरे स्वाध्याय और लेखनकार्यके प्रेरणास्रोत रहे हैं। इन सभी महात्माओं के पावन पादपद्मों में अनन्त प्रणति समर्पित हैं।

हमारे लेखोंको सुन्दर अक्षरोंमें लिखकर पाण्डुलिपि बनानेका कार्य श्री एकनाथ श्रीरामपुरकर (अहमदनगर) ने किया। श्रीमहेश चन्द्र मासीवाल (साहित्याचार्य- एम.एड., शिक्षक देहरादून) ने तत्परतासे अक्षरसंयोजन किया है तथा स्वामी महेशानन्द (ज्योतिर्विद् और वेदान्तविद्वान्) स्वर्गाश्रम ने कुशलतासे सम्पादनकार्य सम्पन्न किया है। इन सभीके परिश्रमके परिणामस्वरूप प्रस्तुत ग्रन्थ उपनिषत्प्रेमी पाठकों के हाथों में प्रस्तुत है।

महाशिवरात्रि
वि० सं० 2070

स्वामी त्रिभुवनदास
मङ्गलम् कुटीरम्, गङ्गालाइन
स्वर्गाश्रम(ऋषीकेश), उत्तराखण्ड
पिन-249304

शुभ-आशीर्वाद

वेदोंका सार या अन्तिम भाग वेदान्त कहलाता है। उपनिषदों से ही वेदान्तसूत्रोंका अर्थ स्पष्ट होता है। उपनिषद् अष्टोत्तरशत हैं, उनमें दश प्रधान हैं। दश में भी ईशावास्योपनिषद् प्रधान है। बड़ा हर्ष है कि स्वामी त्रिभुवनदासजी ने इस उपनिषद् की विस्तृत व्याख्या की है। सामान्य अर्थ तो जगह-जगह मिलता है, परन्तु विस्तृत व्याख्या की न्यूनता दृष्टिगोचर होती है। उपनिषद्-विद्या वेदविद्या है। इसका ज्ञान आवश्यक है। इस व्याख्या के द्वारा अधिक से अधिक लोग लाभान्वित होंगे।

महन्त नृत्यगोपालदास
श्रीमणिरामदास छावनी
अयोध्या

शुभ-सम्मति

श्रीरामः शरणं समस्तजगताम्

अत्यन्त हर्ष का विषय है कि हमारे श्रद्धेय तपःस्वाध्यायनिरत, अध्यापनपरायण, विद्वद्वरेण्य स्वामी त्रिभुवनदासजीसे सर्वेश्वर श्रीसीतारामचन्द्र भगवान् साधक जगत्के परम हितार्थ सत्साहित्यसृजनरूप सेवा सम्पादित करा रहे हैं। इनके द्वारा लिखित 'विशिष्टाद्वैत वेदान्तका विस्तृत विवेचन' और 'उपासना दर्पण' ग्रन्थ प्रकाशित हो चुके हैं। अब 'ईशावास्योपनिषद्' पर व्याख्यालेखन का कार्य सम्पन्न हो चुका है। इसमें स्वसिद्धान्तप्रतिपादनके साथ परमत का निराकरण भी किया गया है। अब यह ग्रन्थ प्रकाशित होने जा रहा है। इससे बहुत प्रसन्नता है। करुणावरुणालय परब्रह्म श्रीसीतारामजी इसी प्रकार इनको सद्ग्रन्थलेखनादिके माध्यम से वैष्णवजगत्की सेवा का सौभाग्य प्रदान करते हुए आधिव्याधिविर्निमुक्त दीर्घायुष्य प्रदान करें एवं अपने चरणों का प्रतिक्षणवर्धमान, अहेतुक अनुराग प्रदान करें।

दासानुदास

राजेन्द्रदास

व्याकरणवेदान्तसाहित्याचार्य

मलूकपीठ, वंशीवट, वृन्दावन

श्रीहरये नमः
श्रीमते रामानुजाय नमः

मङ्गलानुशासनम्

ईशावास्योपनिषदः व्याख्यानं राष्ट्रभाषया।
स्वामिभी रचितं भूयात् समेषां मङ्गलाय वै।।

अखिलहेयप्रत्यनीकस्य समस्तकल्याणगुणाकरस्य सर्वमङ्गलविग्रहस्य श्रीमन्नारायणस्य यदुगिरियदुराजसम्पत्कुमारस्य कृपापरीवाहेण सर्वत्र नित्यश्रीः नित्यमङ्गलम्। महतो हर्षप्रकर्षस्यायं विषयः यत् भगवति श्रीनारायणे प्रेमवृद्धीप्सवः विरक्ताः परमभागवताः अधीतकृत्स्नशास्त्राः तत्रभवन्तो भवन्तः श्रीत्रिभुवनदास-श्रीस्वामिचरणाः श्रीवैष्णवसम्प्रदायसिद्धान्तानुसारीणि तत्त्वानि सङ्गृह्य श्रीशुक्लयजुर्वेदस्य ईशावास्योपनिषदः राष्ट्रभाषया व्याख्यानत्वेन इदं ग्रन्थरत्नं व्यरचन्। ''पाण्डित्यं निर्विद्य बाल्येन तिष्ठासेत्'' इत्याकारकं वाक्यं चरितार्थयन्तः इमे त्रिभुवनदासजीस्वामिनः इदम् ईशावास्योपनिषदः व्याख्यानात्मकग्रन्थरत्नं विरच्य नैकानां वैष्णवानां कृते वासुदेवस्वरूपावबोधने महान्तम् उपकारम् अकार्षुः इत्यत्र नास्ति काचित् संशीतिः। अध्यात्मविद्याधिजिगमुषूणां कृते ईशावास्योपनिषदः अध्ययनं, मननं, निदिध्यासनं नितरामावश्यकम्। यतः परब्रह्मणः समग्रस्वरूपं याथातथ्येनावगन्तुम् इयमुपनिषत् अस्मान् उपकृत्य परब्रह्मसायुज्यं प्रदातुं समर्था वरीवर्ति। अतोऽयं ग्रन्थः अशेषाणाम् आस्तिकानाम् अध्येतॄणाञ्च निःश्रेयसे भूयात् इति यदुगिरिस्थसम्पत्कुमारं श्रीमन्नारायणं सम्प्रार्थये। इत्थं सज्जनानुग्रहपात्रीबुभूषुः।

भा॰ वं॰ रामप्रियः
नव्यन्यायाचार्यः, विशिष्टाद्वैतवेदान्ताचार्यः
(मेलुकोटे, कर्नाटक)
निदेशकः - दर्शनम् संस्कृत संस्थानम्
श्रीस्वामिनारायणगुरुकुलविश्वविद्याप्रतिष्ठानम्, छारोडी, अहमदाबाद

सम्पादकीय

ईशावास्योपनिषत् की व्याख्या आप जैसे प्रबुद्ध पाठकोंके समक्ष उपस्थित है। इसमें मन्त्रके पश्चात् अन्वयके क्रमसे मन्त्रके पदोंका अर्थ प्रस्तुत है, जिससे सामान्य पाठकोंको भी मन्त्रार्थ अत्यन्त सरलतासे हृदयंगम हो सके। अर्थके बाद गम्भीर, विस्तृत और मर्मस्पर्शी व्याख्या सन्निविष्ट है। विषयवस्तुको अवगत करानेके लिए इसे यथोचित शीर्षकोंसे सुसज्जित किया गया है। इसके अध्ययनसे विषय अनायास ही हृदयपटलपर अंकित होता चला जाता है, पाठकगण इसका स्वयं अनुभव करेंगे। मन्त्रके यथाश्रुत अर्थका बोध कराना ही हमारे व्याख्याकार स्वामीजी को अभीष्ट है, फिर भी कुछ स्थलोंमें अन्य मतोंकी संक्षिप्त समालोचना हुई है, जो कि प्रासङ्गिक है। ग्रन्थके अन्तमें परिशिष्ट भी दिये गये हैं, जिससे यह ग्रन्थ शोधकर्ताओंके लिए भी संग्राह्य हो गया है। हमारा विश्वास है कि हिन्दी माध्यम से उपनिषदोंके अध्येता इस ग्रन्थरत्नका आदर करेंगे।

स्वामी महेशानन्द

'मातोश्री', ग्राम-जौंक

पो०-स्वर्गाश्रम(ऋषीकेश)

उत्तराखण्ड, पिन-249304

प्रस्तावना

मनुष्य आध्यात्मिक, आधिदैविक और आधिभौतिक इन त्रिविध सांसारिक दुःखोंसे अत्यन्त सन्तप्त होकर सृष्टिके आरम्भ कालसे ही निरतिशय सुखका अन्वेषण करते आया है। धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष इन चतुर्विध पुरुषार्थोंमें निरतिशय सुखरूप मोक्ष ही मानवजीवन का अन्तिम प्राप्य लक्ष्य है। संसारमें चौरासी लाख योनियोंमें बारम्बार जन्म-मृत्युकी प्राप्तिरूप घोर अनर्थ से पार होने के लिए जिज्ञासु मानवको परमशान्तिरूप मोक्षकी प्राप्तिका सतत प्रयत्न करना चाहिए क्योंकि सांसारिक विषयोंसे प्राप्त होनेवाले सुख क्षणिक होते हैं। उनमें शाश्वत सुखकी आशा करना मरुमरीचिकामें जलप्राप्तिकी आशाके समान व्यर्थ ही है। सांसारिक भोगोंको भोगनेसे कामनाओं की शान्ति नहीं होती अपितु उनकी वृद्धि ही होती है। **न जातु कामः कामानामुपभोगेन शाम्यति। हविषा कृष्णवर्त्मेव भूय एवाभिवर्धते।।** (भा॰ 9.19.14) धनसे तृप्त होनेवाला मनुष्य दिखायी नहीं देता- **न वित्तेन तर्पणीयो मनुष्यो लप्स्यामहे**(क.उ. 1.1.28)।

चतुर्विध पुरुषार्थों का प्रतिपादन करनेवाला शास्त्र वेद है। इसके दो भाग हैं- मन्त्र और ब्राह्मण—**मन्त्रब्राह्मणयोर्वेदनामधेयम्** (आपस्तम्ब श्रौतसूत्र)। मन्त्रब्राह्मणात्मक वेद अपौरुषेय और अनादि है। पाश्चात्य विद्वानोंके मतानुसार भी विश्वसाहित्यमें सर्वाधिक प्राचीन ऋग्वेद है। प्राचीनता और मान्यताकी दृष्टिसे वेद ही भारतीय विचारधाराका मूलस्रोत है। वैदिकसिद्धान्तके मूलतत्त्वोंका प्रतिपादन करनेवाली प्रस्थानत्रयी है। जिसमें उपनिषद्, गीता और ब्रह्मसूत्र सम्मिलित हैं। इनमें उपनिषद् ही गीता और ब्रह्मसूत्र का आधार है। उपनिषद्को अध्यात्मविद्या और ब्रह्मविद्या भी कहा जाता है।

गीताको उपनिषद्‌रूपी गायोंका अमृतरूप मधुमय सुस्वादु दूध माना गया है, जिसे गोपाल भगवान् कृष्णने अर्जुनको बछड़ा बनाकर विद्वानोंके आस्वादनार्थ दुहा है–**सर्वोपनिषदो गावो दोग्धा गोपालनन्दनः। पार्थो वत्सः सुधीर्भोक्ता दुग्धं गीतामृतं महत्॥** उपनिषदोंका सार होनेसे गीताको गोतोपनिषद् भी कहा जाता है, गीताका भी मूल होने के कारण उपनिषदोंकी महिमा सर्वाधिक है। ब्रह्मसूत्र उपनिषद्-वचनोंका सूत्ररूपमें संकलन है। विचारकोंकी मूलभूत समस्याए ही उपनिषदोंका विषय हैं। इनका चरम लक्ष्य परमसत्य तत्त्वका अन्वेषण करना है। अन्य वस्तुओंसे और उनके सामान्य कारणोंसे समस्याका समाधान न होनेसे प्राप्त असंतोष ही ऐसे प्रश्नोंका जन्मदाता है, जो श्वेताश्वतर उपनिषद्‌के आरम्भमें मिलते हैं–हे ब्रह्मवेत्ता महर्षियो! हमारा कारण ब्रह्म कौन है? हम कहाँसे उत्पन्न हुए हैं? किसके द्वारा जीवित हैं? किसमें हम सब लीन होंगे? और किससे नियन्त्रित होकर हम सभी दुःखरूप जन्मोंकी शृंखलामें पड़े हुए हैं?– **किं कारणं ब्रह्म कुतः स्म जाता जीवाम केन क्व च सम्प्रतिष्ठाः। अधिष्ठिताः केन सुखेतरेषु वर्तामहे ब्रह्मविदो व्यवस्थाम्॥**(श्वे.उ. 1.1) केनोपनिषद् में कहा है– किससे प्रेरित होकर मन अपने विषयमें जाता है? किससे प्रेरित होकर मुख्य प्राण शरीरधारण करता है? जीव किससे प्रेरित होकर इष्ट और अनिष्ट शब्दों को बोलते हैं? चक्षु और श्रोत्रको अपने-अपने कार्य केलिए कौन प्रेरित करता है?–**केनेषितं पतति प्रेषितं मनः केन प्राणः प्रथमः प्रैति युक्तः। केनेषितां वाचमिमां वदन्ति चक्षुः श्रोत्रं क उ देवो युनक्ति॥** (के.उ. 1.1) आत्मतत्त्व और परमात्मतत्त्व के गूढ़ रहस्यको जानने केलिए उपनिषद् अद्वितीय साधन है। इसमें सम्पूर्ण वैदिकज्ञान की सार अध्यात्मविद्याके अत्यन्त गूढ़ रहस्यों का विशद विवेचन किया गया है। अतः यह भारतीय तत्त्वज्ञानकी मूलस्रोत है। इसके अध्ययनसे मनुष्य अपने जीवनके चरम लक्ष्य मोक्ष को प्राप्त कर सकता है। वास्तव में उपनिषद् एक आध्यात्मिक मानसरोवर है, जिससे विभिन्न ज्ञाननदियाँ निकलकर मानवमात्रके परम कल्याणके लिए प्रवाहित हो रही हैं। भारतीय वाङ्मयमें उपनिषदोंका स्थान सर्वमूर्धन्य है। ये तत्त्वज्ञानकी विशालतम भण्डार हैं। इसलिए वेदान्तियोंने अपनी प्रस्थानत्रयीमें इनको प्रथम स्थान

दिया है। उपनिषद् एक सुदृढ़ नीव के समान है, जिसके ऊपर भारतीय दर्शनशास्त्रोंके विशाल, उन्नत, विविध-विचित्र रमणीक भवन खड़े हैं। सुखरूप मोक्षकी प्राप्ति कराना ही उपनिषदों का प्रधान लक्ष्य है। परमात्माको जानकर ही मृत्यु का अतिक्रमण होता है, मोक्ष के लिए अन्य उपाय नहीं है- **तमेव विदित्वाऽतिमृत्युमेति नान्यः पन्था विद्यतेऽयनाय**(श्वे.उ. 3. 8) भारतीय आध्यात्मिक दार्शनिक विचार-प्रवाह अपौरुषेय वेदोंपर आधारित होनेके कारण चिर-प्राचीन होते हुए भी नित्य-नूतन है।

उपनिषद् विद्या आचार्यसे प्राप्त करनेकी वस्तु है। जिस प्रकार मलिन और कृष्ण वस्त्र पर रंग नहीं चढ़ता, मरुभूमिमें धान्यके बीज अंकुरित नहीं होते, उसी प्रकार अनधिकारीके दूषित वासनायुक्त अन्तःकरणमें ब्रह्मविद्याका उपदेशरूप बीज अंकुरित नहीं होता, इसलिए उसका ब्रह्मसाक्षात्काररूप पुष्प और मोक्षरूप फल भी नहीं होता। इसलिए यदि कोई अन्तःकरणकी शुद्धिके साधनों में न लगकर रागद्वेषके वशीभूत होकर विषयभोगकी प्राप्तिके लिए प्रयत्न करता है तो वह पशु है, आत्महत्यारा है और अनित्य भोगोंमें फंसे रहनेके कारण अपनेको सदा विनाशके सागरमें गिराता रहता है। कर्मसे नित्यमोक्ष प्राप्त नहीं हो सकता, अतः मुमुक्षु कर्मसे प्राप्त होनेवाले लोकोंका विचार करके वैराग्यको प्राप्त करे और ब्रह्मज्ञान के लिए हाथमें समिधा लेकर श्रोत्रिय- ब्रह्मनिष्ठ गुरुकी ही शरण में जाए-**परीक्ष्य लोकान् कर्मचितान् ब्राह्मणो निर्वेदमायान्नास्त्यकृतः कृतेन। तद् विज्ञानार्थं स गुरुमेवाभिगच्छेत् समित्पाणिः श्रोत्रियं ब्रह्मनिष्ठम्॥**(मु.उ. 1.2.12) प्रणाम और सेवाके द्वारा गुरुदेवको प्रसन्न करने के बाद प्रश्न करके ब्रह्मको जानना चाहिए। वे तत्त्वदर्शी-ज्ञानी आचार्य तेरे लिए ज्ञानका उपदेश करेंगे- **तद्विद्धि प्रणिपातेन परिप्रश्नेन सेवया। उपदेक्ष्यन्ति ते ज्ञानं ज्ञानिनस्तत्त्वदर्शिनः॥**(गी.4.34) उपनिषदों में जीवात्मा तथा परमात्माका स्वरूप-स्वभाव, जीवात्मा का बन्धन, मोक्ष और मुक्तावस्थामें स्थिति आदिका प्रतिपादन मिलता है। विदेशी विद्वान् भी इनसे सम्बन्धित प्रश्नोंका उत्तर पाकर आश्चर्यचकित हो जाते हैं क्योंकि इनका उत्तर उन्हें अन्यत्र नहीं मिलता है अथवा असंतोषजनकरूप में मिलता है। सूक्ष्मदृष्टिसे

अध्ययन करनेवाले मनुष्यके मनमें ऐसे प्रश्न अवश्य उठते हैं। उपनिषदोंमें इनका इतना वैज्ञानिकतापूर्ण एवं संतोषप्रदायक उत्तर है, जिसका कि प्रत्येक जिज्ञासुके अन्तःकरण में अवश्य प्रभाव पड़ता है।

कर्मकाण्ड और ज्ञानकाण्ड भेदसे भी वेदके दो विभाग किये जाते हैं, इनमें दूसरे को उपनिषद् कहा जाता है। तत्त्व(ब्रह्म)के उपदेशकी प्रधानतावाला मन्त्र तथा ब्राह्मणरूप वेदका भाग उपनिषद् कहा जाता है–**तत्त्वोपदेशप्रधान-मन्त्रब्राह्मणरूपवेदभागः उपनिषत्।** वह वेदका अन्त(अन्तिम) भाग होनेके कारण वेदान्त भी कहलाता है–**वेदस्य अन्तः अन्तभागः वेदान्तः।** उपनिषद् वेदका शिरो (प्रधान) भाग है। ब्रह्मविद्याका प्रतिपादक वेदका शिरोभाग वेदान्तशास्त्र कहा जाता है–**ब्रह्मविद्याप्रतिपादकं वेदशिरोभागरूपं वेदान्तशास्त्रम्।** ईशावास्योपनिषत् संहिता भाग की है, वह संहिताके अन्त में विद्यमान है। अन्य उपनिषदें ब्राह्मणभागकी हैं, वे ब्राह्मणके अन्तमें विद्यमान हैं। वेदार्थके निर्णयमें उपयोगी होनेसे उपनिषद्को वेदान्त कहते हैं–**वेदस्य वेदार्थस्य अन्तः अवसानं संशयाऽपगमः निर्णयः यस्मात् सः वेदान्तः।** उपनिषद् भाग तो परमात्मा का प्रतिपादक है ही। कर्मकाण्डरूप पूर्वभागमें भी जो अग्नि, इन्द्र आदि देवताओंका प्रतिपादन है। वह अग्नि, इन्द्र आदि देवताओंके अन्तरात्मा ब्रह्मका ही प्रतिपादन है। यह **तदेवाग्निस्तद् वायुः**(तै.ना.उ.7) इस उपनिषद् वाक्यसे ही ज्ञात होता है। इस प्रकार देवताओंके प्रतिपादक वचन तत्तद्देवताका प्रतिपादन करते हुए उनके अन्तर्यामी परमात्माका प्रतिपादन करते हैं। पूर्वभागमें भी परमात्माके साक्षात् प्रतिपादक अनेक मन्त्र विद्यमान हैं। वेदान्तका अध्ययन न करनेवाला व्यक्ति उनके भी अर्थको नहीं समझ सकता है। इस प्रकार उपनिषद्का अध्ययन सम्पूर्ण वेदके अर्थका निर्णायक होता है। क्या केवल देवताको उद्देश्य करके कर्मोंका विधान किया जाता है? अथवा उनके अन्तरात्मा परमात्माको उद्देश्य करके कर्मोंका विधान किया जाता है? कर्म का प्रधान लक्ष्य क्या है? इत्यादि प्रश्नों के उत्तर वेदान्तसे ही सुविज्ञेय हैं। वेदमें धर्मोपदेशके पश्चात् ब्रह्मोपदेश किया गया है क्योंकि बहुत परिश्रमसे ग्रहण करनेपर ही अत्यन्त सूक्ष्म तत्त्व चित्तमें स्थिर होता है। अतः आरुणि गौतमने अपने पुत्र

श्वेतकेतुको स्वयं अध्ययन न कराके, अन्यत्र भेजा। अध्ययनोपरान्त वापस आने पर उसके अज्ञानको प्रकट करके जिज्ञासु श्वेतकेतुको तत्त्वका उपदेश किया कि जिसके ज्ञात होनेपर यह सब ज्ञात हो जाता है, वह तत्त्व परम रहस्य है। अत: वेदान्तको रहस्य विद्या भी कहा जाता है। **उप-समीपे, निषद्य-उपविश्य, शिष्येण आचार्यात् गृह्यमाणत्वाद् उपनिषदिति**–शिष्य आचार्यके समीप में बैठकर रहस्य विद्या (ब्रह्मविद्या) को ग्रहण करता है, इसलिए उसे उपनिषद् कहते हैं। यद्यपि सम्पूर्ण वेद आचार्यके समीप बैठकर ही ग्रहण किये जाते हैं, फिर भी परम रहस्य होनेसे वेदान्तको आचार्यके अत्यन्त समीप बैठकर ग्रहण किया जाता है। जिसके जाननेके पश्चात् कुछ भी ज्ञातव्य नहीं रह जाता, वह ब्रह्मतत्त्व वेदान्तसे ही ज्ञात होता है। उपनिषद् पदका रहस्य अर्थमें भी प्रयोग किया जाता है। जैसे–**एषा वेदोपनिषद्**(तै.उ. 1.11.5), **तस्योपनिषदहरिति** (बृ.उ.5.5. 2)। महावैयाकरण आचार्य पाणिनिने भी **जीविकोपनिषदावौपम्ये** (अ. सू. 1.4.79) इस सूत्रमें उपनिषद् शब्दका रहस्य अर्थमें प्रयोग किया है।

सम्प्रदायपरम्परासे प्राप्त उपनिषद् शब्दके प्राचीन अर्थको श्रीसुदर्शन सूरिने श्रीभाष्यके मंगलाचरणकी व्याख्यामें इस प्रकार प्रदर्शित किया है– **ब्रह्मण्युपनिषण्णेत्युपनिषत्। 'उपनिषण्णत्वाद्वोपनिषत्' इति हि वाक्यम् 'गहने हीयं विद्या सन्निविष्टा' इति तद्विषयं द्रमिडभाष्यम्। 'गहने ब्रह्मण्युपनिषण्णा' इति भाष्यविषया वामनटीका। अद्वारकभगवत्प्रतिपाद-कत्वमुपनिषण्णत्वम् इति। ब्रह्मण्युपनिषण्णेत्युपनिषत्** यह वचन वक्ष्यमाण उद्धरणों का सार है। **उपनिषण्णत्वाद्वा उपनिषत्** यह वाक्य ग्रन्थ[1] का वचन है। इसका भी व्याख्यान **गहने हीयं विद्या सन्निविष्टा** यह द्रमिडभाष्य[2] है और इस भाष्यका भी व्याख्यान **गहने ब्रह्मण्युपनिषण्णा** यह वामन टीका[3] है। इन तीनों उद्धरणोंका सार तथा पूर्व प्रोक्त

1. ब्रह्मनन्दि आचार्यकृत छान्दोग्योपनिषत् की वाक्य व्याख्या।
2. वाक्य का भाष्य द्रमिडभाष्य, यह द्रमिडाचार्यकृत है।
3. द्रमिडभाष्य पर वामनाचार्यकी टीका। ब्रह्मनन्दि, द्रमिडाचार्य और वामन ये तीनों ही आचार्य शंकर से अत्यन्त प्राचीन हैं।

ब्रह्मण्युपनिषण्णेत्युपनिषत् का स्पष्टीकरण **अद्वारकभगवत्प्रतिपादकत्वमुपनिषण्णत्वम्** यह वचन है। वाक्यग्रन्थमें आये उपनिषण्णा शब्द का द्रमिडभाष्यमें **सन्निविष्टा विद्या** अर्थ किया है। भाष्य में आये गहन शब्द से वामनटीकामें ब्रह्मको ग्रहण किया गया है। इस प्रकार गहन ब्रह्ममें fLFkr[1] अर्थात् अत्यन्त गूढ़ तत्त्व ब्रह्मका प्रतिपादक होनेसे रहस्यविद्या उपनिषद् कही जाती है। देवताका प्रतिपादक मन्त्रभाग देवताके द्वारा परमात्माका प्रतिपादन करता है और यह साक्षात् परमात्माका प्रतिपादन करता है, इसलिए उपनिषद् कहा जाता है- **अद्वारकभगवत्प्रतिपादकत्वम् उपनिषण्णत्वम्।** इसी प्रकार 'ब्रह्मका साक्षात् प्रतिपादन करती है, इसलिए उपनिषद् कही जाती है'- **उपनिषीदति अव्यवधानेन नित्यं समन्वेति प्रतिपादयति इति उपनिषत्** यह भी लक्षण संभव होता है।

यं वाके[2]ष्वनुवाकेषु निषत्सूपनिषत्सु च गृणन्ति सत्यकर्मा[3]णम् (म.भा.शां. 47.26) वेद के मन्त्रभागोंमें, मन्त्रके अर्थबोधक ब्राह्मणभागोंमें, इन्हीं दोनोंके अन्तर्गत देवताके प्रतिपादक भागोंमें तथा उपनिषदोंमें सृष्टि, स्थिति, संहार और भक्तोद्धार आदि सत्य कर्म करनेवाले परमात्माका प्रतिपादन किया गया है। जो देवता का प्रतिपादक वेदभाग है, वह निषत् है अर्थात् देवताके द्वारा परमात्माका प्रतिपादक है, अतः 'उप' इस उपसर्गके बलसे यह ज्ञात होता है कि परमात्माका साक्षात् प्रतिपादक रहस्य भाग उपनिषत् है। अतः श्रुतप्रकाशिकाकारने **अद्वारकभगवत्प्रतिपादकत्वम्** यह उपनिषद्का लक्षण किया है। इस प्रकार पूर्वाचार्योंकी व्याख्यानुसार परमात्माके साक्षात् प्रतिपादक शब्दराशिरूप वेदभागको मुख्यरूपसे उपनिषद् कहा जाता है। इसका गुरुमुखसे श्रवणादि करनेपर जो अविद्यानिवर्तक

1. शब्दकी अपने अर्थमें स्थिति प्रसिद्ध है। जैसे - हम उस परमात्माको नमस्कार करते हैं, जिसमें सभी शब्दोंकी शाश्वती स्थिति है- **नताः स्म सर्ववचसां प्रतिष्ठा यत्र शाश्वती।** (वि.पु.1.14.13)
2. वाकेषु - मन्त्रेषु, अनुवाकेषु -तदर्थदर्शिषु ब्राह्मणेषु, निषत्सुदेवताप्रतिपादकभागेषु तथा उपनिषत्सु च इत्यर्थः।
3. इस सत्यकर्म पदसे उपनिषदोंका सगुणब्रह्मबोधकत्व और जगत्का सत्यत्व भी स्पष्ट है।

ब्रह्माकारवृत्ति होती है, वह भी मुख्यवृत्तिसे ही उपनिषद् कही जाती है। ग्रन्थके लिए गौणीवृत्तिसे उपनिषद् शब्दका प्रयोग होता है। जिस विद्याके द्वारा मुमुक्षु जीव ब्रह्मके सामीप्यको निश्चितरूप से प्राप्त करता है, वह उपनिषत् कही जाती है- **उप ब्रह्मसामीप्यं नि निश्चयेन सीदति प्राप्नोति यया विद्यया सा उपनिषद्।** जो अनादिकालसे संचित अज्ञानको बिल्कुल नष्ट करती है, उसे उपनिषत् कहते हैं- **उप उपजातम् अनादिकालात् प्रवृत्तम् अज्ञानं नितरां सीदति नाशयति या, सा उपनिषत्।** ब्रह्मके सामीप्यकी प्राप्ति निश्चितरूपसे कराती है, इसलिए उपनिषद् कही जाती है- **उप ब्रह्मणः सामीप्यं जीवं नि निःसंशयं सादयति गमयतीति उपनिषत्।**

जीव अनादि कर्मरूप अज्ञानके कारण विषयोन्मुख होकर परमात्मासे दूर हो गया है। वह उपनिषदात्मिका ब्रह्मविद्यासे अज्ञान निवृत्त होनेपर उनके समीप पहुँच जाता है। बन्धनको शिथिल अर्थात् शक्तिहीन करती है, इसलिए उपनिषद् कहते हैं- **उप निषीदति बन्धनं सीदति इति उपनिषत्।** ब्रह्मविद्या समीपस्थ मुमुक्षुको निश्चितरूपसे परमात्माकी प्राप्ति कराती है, इसलिए उपनिषत् कही जाती है- **उप समीपस्थं नि निश्चितं परमात्मानं सादयति प्रापयति इति उपनिषत्।** जिस विद्याके द्वारा मुमुक्षु ब्रह्मके समीप जाता है, उसे उपनिषद् कहते हैं–**उप ब्रह्मणः समीपे निः निःसंशयं सद्यते गम्यते यया सा उपनिषत्** इत्यादि स्थलोंमें अविद्यानिवर्तक अपरोक्षात्मिका ब्रह्मविद्या के लिए उपनिषद् शब्द प्रयुक्त है। नियमका पालने करनेवाले मुमुक्षु शिष्यको आचार्यके समीप आनेपर जिस विद्याका उपदेश किया जाता है, उसे उपनिषत् कहते हैं- **उपेत्य नियमयुक्ताय या साद्यते उपदिश्यत इति उपनिषत्।** जिससे ब्रह्मविद्या प्राप्त होती है, उसे उपनिषद् कहते हैं- **उपनिषद्यते प्राप्यते ब्रह्मविद्या अनया इति उपनिषत्।** इन दोनों स्थलों में परोक्षात्मिका ब्रह्मविद्या अथवा परब्रह्म के साक्षात्प्रतिपादक वेदभाग के लिए उपनिषद् शब्द प्रयुक्त है।

मुमुक्षु मानवके लिए सब प्रकारसे कल्याणकारक उपनिषद्विज्ञान अक्षयनिधिके समान है। तत्त्ववेत्ताओं में अग्रगण्य महर्षि वेदव्यासने उनके

सारभूत अर्थोंको लेकर ब्रह्मसूत्रका प्रणयन किया और उपनिषदोंके ही सारभूत तत्त्वका विवेचन करनेमें अत्यन्त कुशल व्यासके शिष्य बोधायन तथा ब्रह्मनन्दि, द्रमिडाचार्य आदि पारदृश्वा विद्वानोंने अनेक ग्रन्थोंकी रचना की। श्रुति, सूत्र और उनके व्याख्याता वृत्तिकार बोधायन, वाक्यकार ब्रह्मनन्दि तथा भाष्यकार द्रमिडाचार्य आदिके द्वारा प्रदर्शित पथमें कुछ परवर्ती व्याख्याताओं केद्वारा कण्टकप्रक्षेप करके पूर्वाचार्योंकी सम्प्रदाय परम्परासे प्राप्त आर्ष व्याख्याओंको अनादर दृष्टिमें देखा गया और उनका खण्डन भी किया गया। परम ऋषि ब्रह्मनन्दि आदि आचार्योंने उपनिषदोंकी व्याख्याकी थी, फिर भी अर्थकामपरायण मनुष्योंके द्वारा उपेक्षित होनेसे वे प्रचारपथसे दूर होती चली गयीं। बादमें जो व्याख्याएं की गयीं, उनमें कुछ महायानिकबौद्धसम्मत अर्थ भी मिश्रित होनेके कारण वे परम्परानिष्ठ वैदिक विद्वानोंके द्वारा उपादेय नहीं हो सकीं। अत: प्राचीन आर्षव्याख्यानगत प्रतिपाद्य विषयका पुन: उद्धार करने के इच्छुक भगवान् रामानुजाचार्यने आर्ष व्याख्यानोंको प्रमाणित करते हुए उन्हींके मतानुसार सभी उपनिषदोंकी समन्वय पद्धतिका आश्रय लेकर 'वेदार्थसंग्रह[1]' की रचना की। इसमें उन उपनिषद् वाक्योंका प्रधानतासे विश्लेषणपूर्वक अर्थ किया गया है, जिनको आधार बनाकर आचार्योंने अपने-अपने सैद्धान्तिक भवन खड़े किये हैं और अन्य उपनिषद्-वचनोंके अर्थनिर्देशकी पद्धतिका सुगम राजमार्ग भी बताया गया है। श्रुतियोंके निर्विशेषाद्वैत(शांकराद्वैत) और सविशेषाद्वैत(विशिष्टाद्वैत) सिद्धान्तसम्मत अर्थके तुलनात्मक अध्ययनके लिए 'वेदार्थसंग्रह' ग्रन्थ बहुत उपयोगी है, इस विषयमें इसकी किसी अन्य ग्रन्थ से तुलना नहीं हो सकती। श्रीरामानुजाचार्यने ब्रह्मसूत्रके भाष्यमें भी पूर्वोत्तर सन्दर्भके परामर्शपूर्वक उपनिषद्वचनोंका व्याख्यान किया और अपव्याख्यानोंका सप्रमाण निराकरण किया। आचार्य ब्रह्मनन्दिकृत छान्दोग्योपनिषद् पर 'वाक्य' नामक व्याख्याका भाष्य द्रमिडाचार्यने किया। श्रीरामानुजाचार्यने श्रीभाष्य और वेदार्थसंग्रहमें इन दोनों ग्रन्थोंके वचनोंको उद्धृत किया है। छान्दोग्योपनिषद्- शांकरभाष्यके

---

1. इस ग्रन्थ पर अनेक संस्कृत व्याख्याएँ और श्रीनीलमेघाचार्य द्वारा रचित सरल एवं विस्तृत हिन्दी व्याख्या उपलब्ध है।

उपोद्घातकी व्याख्यामें आनन्दगिरि द्रमिडाचार्यके भाष्यका उल्लेख करते हैं। आचार्य शंकरने छान्दोग्यके ही मधुविद्या प्रकरणमें द्रमिडाचार्यके भाष्यको प्रस्तुत किया है और अन्यत्र भी उनके मतका उल्लेख किया है। श्रीशंकराचार्य द्रमिडाचार्यका कहीं आचार्यपदसे और कहीं सामान्यरूपसे निर्देश करके अपने अभिप्रायसे विपरीत होने पर उनके अर्थका निराकरण करते हैं। श्रीरामानुजाचार्य उनके वचनोंको सिद्धान्तरूपसे ही उद्धृत करते हैं और कहीं भी उनका निराकरण नहीं करते। उन्होंने बोधायन और ब्रह्मनन्दिके समान द्रमिडाचार्य के वचनोंका आदर करके सिद्धान्तनिरूपक सरणिको सुगम बना दिया। इसी पथका अनुसरण करते हुए श्रीसुदर्शनसूरिने सुबालोपनिषद्का भाष्य किया, श्रीवेदान्तदेशिक स्वामीने ईशावास्यभाष्यकी रचना की, इस पर उत्तमूर वीरराघवाचार्य ने 'आचार्यभाष्य तात्पर्य' व्याख्या की। श्रीरंगाचार्यने ईशावास्यभाष्यकी रचना की, श्रीवत्साङ्कनारायणमुनिने ईश, मुण्डक और माण्डूक्य पर भाष्य किया, श्रीकूरनारायण मुनि और कौशिक गोविन्दराजने तैत्तिरीयोपनिषद् भाष्य किया। श्रीरामानन्दाचार्य ने ईशादि दशोपनिषद् तथा श्वेताश्वतर उपनिषद् पर और श्रीगोपालानन्दयोगीने दशोपनिषद् पर भाष्य की रचना की। श्रीरङ्गरामानुजमुनिने केनादि सभी सुप्रसिद्ध उपनिषदोंपर भाष्यका प्रणयन किया। जिनमें अप्पय दीक्षित आदि अर्वाचीन विद्वानोंके द्वारा किये गये आक्षेपोंका युक्तियुक्त उत्तर दिया गया है। रङ्गरामानुजभाष्यकी उत्तमूर वीर राघवाचार्य ने 'भाष्यपरिष्कार' नामक व्याख्या की। इस प्रकार विशिष्टाद्वैत सम्प्रदायके आचार्योंकी उपनिषद् वाङ्मयपर पर्याप्त व्याख्याएं विद्यमान हैं। अभी 200 से अधिक उपनिषदें उपलब्ध होती हैं। 108 उपनिषदोंका भी संग्रह प्राप्त होता है। 28 उपनिषदें मुख्य हैं, ऐसा भी कुछ विद्वान कहते हैं किन्तु 10 उपनिषदें प्रसिद्ध हैं। ये उदाहरणरूपसे प्रस्तुत की जाती हैं– **ईशकेनकठप्रश्नमुण्डकमाण्डूक्यतित्तिरिः। ऐतरेयं च छान्दोग्यं बृहदारण्यकं तथा ॥**(मुक्ति.उ.1.30) ईशादि 10 उपनिषदोंके समान ही कौषीतकी, सुबाल, श्वेताश्वतर आदि उपनिषदें प्रसिद्ध हैं।

श्रुतियोंका अर्थ अतिगहन होनेके कारण ही उनके अर्थके निर्णायक

ब्रह्मसूत्रोंकी रचना की गयी। महर्षि बोधायनसम्मत विशिष्टाद्वैत मत ही ब्रह्मसूत्रोंके अत्यन्त अनुकूल है, ऐसा सभी तटस्थ विद्वान् मानते हैं। वेदान्तशास्त्रका मुख्य विरोधी सांख्यशास्त्र है, इसीलिए ब्रह्मसूत्रके प्रायः सभी अधिकरणोंमें पूर्वपक्षरूपसे उसका ही उल्लेख किया गया है। इसी कारण ज्ञातृत्वाधिकरण और कर्तृत्वाधिकरण सांख्यमतसे विपरीत आत्माके ज्ञातृत्व और कर्तृत्वकी स्थापना करनेके लिए प्रवृत्त हुए हैं। ये दोनों अधिकरण तथा परायत्ताधिकरण वैदिक विद्वानोंके लिए अत्यन्त महत्त्वपूर्ण हैं क्योंकि वैदिकधर्म और मध्यकालिक बौद्धधर्मका भेद भी इन्हीं अधिकरणों में निहित है। वैदिक सविशेषवादी हैं, बौद्ध तथा उनके अनुयायी निर्विशेषवादी हैं। **वैधर्म्याच्च न स्वप्नादिवत्**(ब्र.सू. 2.2.28) इस सूत्रमें व्यासजीने अपना निर्णय दिया है कि स्वप्नके समान जगत् मिथ्या नहीं है। शंकराचार्यने भी इसके भाष्यमें सूत्रानुसारी अपना अभिप्राय स्पष्ट कर दिया है। यद्यपि ब्रह्मसूत्रकार ने **परिणामात्**(ब्र.सू. 1.4.27) इस प्रकार स्षष्टरुपसे परिणाम कहा है, फिर भी आचार्य शंकरने ब्र.सू. 2.1.1 के भाष्यमें **विकारात्मना विवर्तते** इस प्रकंर परिणाम पदका विवर्त अर्थ परिस्थितिवशात् बौद्धोंको सान्त्वना प्रदान करनेके लिए किया। तार्किक बौद्धमतसे वैदिकमत अत्यन्त भिन्न है किन्तु अत्यन्त विपरीत मार्गका अनुसरण करनेपर तार्किक बौद्धोंको वैदिकमत की ओर आकर्षित नहीं किया जा सकता था इसलिए उनको आकर्षित करनेके लिए ही शंकराचार्यने मध्यममार्ग जैसा स्वीकार करके ब्रह्मसूत्रोंका व्याख्यान किया। अध्यास भाष्यमें एक भी श्रुतिका उदाहरण न देनेसे यह बात स्पष्ट हो जाती है। इस प्रकार आचार्य शंकरने तार्किक बौद्धोंको वैदिक बनानेका बहुत प्रयत्न किया किन्तु उनके अनुयायी परवर्ती विद्वानोंने वेदान्त शास्त्रको तर्कमय बनाकर पुनः वैदिकोंको बौद्ध तार्किक बनानेका प्रयत्न किया। वैदिक धर्मके निर्णायक तर्ककी अवधि ब्रह्मसूत्र ही हैं, इनका उल्लंघन करनेपर शून्यवाद अवश्य उपस्थित हो जाता है। शंकरभगवत्पादने बौद्धोंके तर्कका खण्डन करके और सरल, अद्‌भुत विविध प्रकारके स्तोत्र वाङ्मयकी रचना करके वैदिक भक्तिमार्गका पोषण किया किन्तु उनके अनुयायी विद्वानोंने पूर्वकालिक बौद्धमतकी

वासनासे युक्त होनेके कारण 'भक्तिमार्ग अधम अधिकारी के लिए है, उत्तमके लिए नहीं', यह कहना आरम्भ किया। इस प्रकार उन्होंने वैदिकमत पर प्रहार करके प्रकारान्तरसे बौद्धमत को ही जीवित करनेका प्रयत्न किया। इसलिए परवर्ती विद्वानोंको प्रच्छन्न बौद्ध कहे जानेपर 'हम प्रच्छन्न बौद्ध नहीं हैं, बौद्ध ही प्रच्छन्न वेदान्ती हैं, ऐसा वे कहते हैं। इससे आक्षेपका समाधान नहीं होता अपितु दोनोंका समान अभिप्राय ही प्रदर्शित होता है। वैतण्डिकाग्रगण्य श्रीहर्षने बौद्ध धर्मको महिमामण्डित किया। इस कारण श्रीशंकराचार्यका प्रयत्न विफल जैसा हो गया। वैदिक मतपर आघात करनेवाले सभी विद्वानोंके प्रश्नोंका उत्तर देनेके लिए श्रीवेंकटनाथ वेदान्तदेशिकने 'शतदूषणी' ग्रन्थकी रचना करके शून्यवादके पर्याय निर्विशेषवादका निराकरण किया।

भगवान् बादरायणने **अथातो ब्रह्मजिज्ञासा**(ब्र.सू. 1.1.1) इस प्रकार उपक्रममें वेदान्तसूत्रके प्रधान प्रतिपाद्य ब्रह्मको जिज्ञास्य कहा। वह ब्रह्म सगुण है? या निर्गुण? दिव्यमङ्गल विग्रहसे विशिष्ट है? अथवा उससे रहित है? इस प्रकार उठनेवाले विवादोंका समाधान स्वयं किया है। उन्होंने ब्रह्मके लक्षणको प्रदर्शितकरनेके लिए द्वितीय अधिकरणमें **नेति नेति** इस विषयवाक्यको ग्रहण नहीं किया बल्कि जगज्जन्मादिहेतुत्वेन ब्रह्मके लक्षणबोधक **यतो वा इमानि भूतानि जायन्ते**(तै.उ. 3.1.2) इस विषयवाक्यको ग्रहण किया। इससे ब्रह्मका अभिन्ननिमित्तोपादन- कारणत्व और तदुपयोगी सर्वज्ञत्व, सर्वशक्तिमत्त्व आदि अनन्तकल्याणगुणगणविशिष्ट ब्रह्म सिद्ध होता है। प्राकृत हेयगुणोंसे रहित होनेके कारण ही कहीं पर उसे निर्गुण भी कहा जाता है। श्रुतियों में उसके गुण स्वाभाविक ही कहे गये हैं, वे तर्क से औपाधिक सिद्ध नहीं होते। अतः ब्रह्म निर्गुण कैसे हो सकता है? दुनिया की छोटीसे छोटी वस्तुमें कोई न कोई गुण रहता ही है, सर्वथा गुणरहित कोई वस्तु नहीं होती तो सकलेतरविलक्षण महान् परमात्मा निर्गुण हो ही नहीं सकता। आगे **अन्तरधिकरण**(ब्र.सू 1.1.7) में आदित्यमण्डलके मध्यमें स्थित, खिले हुए कमलके दलके समान, विशाल नेत्रोंवाले, नखसे लेकर शिरपर्यन्त सर्वाङ्ग सुन्दर श्रीविग्रहवाले परमात्माका वर्णन किया गया

है। श्रीभगवान्‌के जो विग्रह हैं, परिणाम और आकार उनके ही होते हैं, कूटस्थ परमात्मस्वरूपके नहीं होते।

उपनिषद् विद्यासे आकर्षित होकर दाराशिकोहने उपनिषदोंका फारसी अनुवाद सन् 1657 ई. में सम्पन्न किया। इसके पश्चात् सन् 1775 ई.में एंक्वेटिल डुपेर्रनको फारसी अनुवादकी एक प्रति प्राप्त हुई, उसने लैटिन भाषामें अनुवाद करके उसे प्रकाशित किया। इस लैटिन अनुवादपर पाश्चात्य पण्डितोंकी दृष्टि पड़ी और वे भी इस पर आकर्षित हुए। इनमें शोपेनहर और मैक्समूलर आदि प्रमुख हैं। उन्होंने उपनिषदोंके तत्त्वज्ञानकी भूरि-भूरि प्रशंसा करके पाश्चात्त्य जगत्‌के सामने उसे प्रस्तुत किया। इस प्रकार औपनिषद् ज्ञानगङ्गा सम्पूर्ण विश्वमें प्रवाहित होकर अवगाहन करनेवाले मुमुक्षु मानवके पाप-पङ्कका प्रक्षालन करके परम शान्ति प्रदान कर रही है।

शुक्ल यजुर्वेदसंहिताका अन्तिम 40वाँ अध्याय ईशावास्योपनिषद् है, यह अष्टादशमन्त्रात्मिका है। आकारकी दृष्टिसे अल्प होनेपर भी गम्भीर और विस्तृत अर्थ से युक्त है। संहिता भागकी होनेसे इसका सभी आदर करते हैं। आराध्य भगवती पराम्बा श्रीसीता और भगवान् श्रीमद्रामचन्द्रके असीम अनुग्रहसे इसकी व्याख्याका लेखन संपन्न हुआ।

स्वामी त्रिभुवनदास

मंगलम् कुटीरम्,गंगालाइन

स्वर्गाश्रम(ऋषीकेश), उत्तराखण्ड, पिन-249304

भूमिका

समस्त वेद, वेदान्त आदि अध्यात्मशास्त्र मानव मात्रके कल्याणके लिए तत्त्व, हित और पुरुषार्थ का उपदेश करते हैं। **तत्त्व**–वेदादि शास्त्र परब्रह्म परमात्मा नारायण को ही प्रधान तत्व निरूपित करते हैं। तैत्तिरीय नारायणानुवाक का वचन है- **नारायणः परं ब्रह्म तत्त्वं नारायणः परः** इत्यादि। **हित**- यहाँ हित शब्द से सभी मनुष्यों के लिए हितसाधक साधन विवक्षित हैं। जो कर्म, ज्ञान, भक्ति और प्रपत्ति(शरणागति)रूप से विभक्त हैं। **पुरुषार्थ**- पुरुषार्थ चार प्रसिद्ध हैं- धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष।

कर्मकाण्ड और ज्ञानकाण्ड भेद से वेद दो भागों में विभक्त हैं। उनमें कर्म का विचार पूर्वमीमांसा में किया गया है, जब कि ब्रह्म और उसके ज्ञान का साङ्गोपाङ्ग विचार उत्तरमीमांसा में किया गया है। उत्तरमीमांसा का उपजीव्य उपनिषद् है, इसे ही वेद का अन्तिम भाग होने से वेदान्त कहते हैं। उपनिषद् से अटूट सम्बन्ध होने के कारण ब्रह्मसूत्र और भगवद्गीता भी वेदान्त कहे जाते हैं। अतएव श्रीसदानन्द यति ने स्वरचित वेदान्तसार में कहा है–**वेदान्तो नाम उपनिषत्प्रमाणं तदुपकारीणि शारीरकसूत्र्यादीनि च।** उपनिषत् शब्द की विभिन्न व्युत्पत्तियाँ या परिभाषाएं आचार्यों ने बतलाई हैं। **उप=समीपे, निषद्य=उपविश्य शिष्येणाऽऽचार्याद् गृह्यमाणत्वादुपनिषत्** अर्थात् समीप में बैठकर शिष्य के द्वारा आचार्य से ग्रहण करने के कारण यह उपनिषद् है, ऐसा किसी आचार्य का कथन है। यद्यपि सम्पूर्ण वेदके समान विद्यास्थानरूप में परिगणित व्याकरण आदि शास्त्र भी आचार्य के समीप में ही बैठकर ग्रहण किये जाते हैं तथापि परम रहस्यरूप होने से वेदान्त ही अत्यन्त समीप में बैठकर शिष्य के द्वारा ग्रहण किये जाने से उपनिषत् है, ऐसा उनका आशय है। श्रीशंकराचार्य ने उपनिषद्भाष्य में– **'षद्लृ विशरणगत्यवसादनेषु' इति विशरणार्थकोऽयं**

धातुः उपनिपूर्वः निश्शेषतापत्रयविशरणं ज्ञानं तत्सम्पादकतया वेदभागं च वक्ति ऐसा कहा है। इसका आशय है कि 'षदलृ' धातु उक्त तीन अर्थ वाला होने पर भी केवल विशरण अर्थ लेने पर आध्यात्मिक, आधिदैविक, आधिभौतिक इन तीनों तापों का निवर्तन करने वाले ज्ञान तथा उसके सम्पादक वेद भाग को कहता है। श्रीश्रुतप्रकाशिकाचार्य ने **ब्रह्मण्युपनिषण्णेत्युपनिषत्** (ब्रह्मसमीप रहने के कारण यह उपनिषत् है) ऐसा कहा है। इसका तात्पर्य यह है कि वेद का अन्तिम भाग ब्रह्म का साक्षात् प्रतिपादक होने से उसके अतिसमीप है, अत एव वह 'उपनिषत्' है। यद्यपि **सर्वे वेदा यत्पदमामनन्ति**(कठोपनिषत्), **वेदैश्च सर्वैरहमेव वेद्यः**(गीता) इत्यादि प्रमाणानुसार समस्त वेद ब्रह्म का प्रतिपादक है तथापि कर्म-देवता प्रतिपादक जो वेद का भाग है, वह परम्परासे ब्रह्म में तात्पर्य रखता है किन्तु ब्रह्म का साक्षात् प्रतिपादक वेद का अन्तिम भाग ही है। अर्थ का वाचक होने से शब्द की अर्थ में वृत्ति(रहना) प्रसिद्ध ही है, अतः **ब्रह्मणि उपनिषीदतीति उपनिषत्** यह अन्वर्थ नाम होगा।

चारों वेद की प्रत्येक शाखा के अन्त्य में आरण्यक है और उस का अन्तिम भाग उपनिषत् नाम से प्रसिद्ध है। वर्तमान में 108 उपनिषदों की प्रसिद्धि है। उनमें प्रायः दश उपनिषदों पर अनेक आचार्यों के भाष्य, व्याख्याएँ और उपव्याख्याएँ उपलब्ध हैं। कतिपय आचार्यों की कुछ अन्य उपनिषदों पर भी व्याख्याएँ उपलब्ध हैं, तथापि ब्रह्मसूत्रों के भाष्यों में ईशादि दश उपनिषदों का ही विशेष सहारा लिया गया है। श्री स्वामी त्रिभुवनदास जी महाराज ने हिन्दी भाषा में 'विशिष्टाद्वैत वेदान्त का विस्तृत विवेचन' नामक बृहद् मौलिक ग्रन्थ लिखने के बाद अब अपनी लेखनी को उपनिषद् की ओर अग्रसारित किया है, यह बड़ी प्रसन्नता की बात है। सर्वप्रथम ये क्रम प्राप्त ईशावास्योपनिषद् की विस्तृत व्याख्या सम्पन्न कर चुके हैं। महाराजश्री के साथ ही इस व्याख्या का भी आद्योपान्त अवलोकन करने का सौभाग्य हमें प्राप्त हुआ। इसके प्रकाशन और अध्ययन से जिज्ञासु पाठकों का महान् उपकार होगा, ऐसा अपना विश्वास है। यह ईशावास्योपनिषत् शुक्ल यजुर्वेद माध्यन्दिनी संहिता का अन्तिम अध्याय है, यही एक संहिता और उपनिषत् दोनों श्रेणियों में परिगणित है। केवल 18 मन्त्रों में सीमित इस उपनिषत् में 'गागर में सागर' न्याय से संक्षेप में

विषयानुक्रमणिका

ईशावास्योपनिषत्

परिशिष्ट

ईशावास्योपनिषत्

मूलपाठः

ॐ पूर्णमदः पूर्णमिदं पूर्णात् पूर्णमुदच्यते।
पूर्णस्य पूर्णमादाय पूर्णमेवावशिष्यते।।
ॐ शान्तिः शान्तिः शान्तिः।

ईशावास्यमिदं सर्वं यत् किञ्च जगत्यां जगत्।
तेन त्यक्तेन भुञ्जीथा मा गृधः कस्यस्विद् धनम्।।1।।

कुर्वन्नेवेह कर्माणि जिजीविषेच्छतं समाः।
एवं त्वयि नान्यथेतोऽस्ति न कर्म लिप्यते नरे।।2।।

असुर्या नाम ते लोका अन्धेन तमसावृताः।
तांस्ते प्रेत्याभिगच्छन्ति ये के चाऽऽत्महनोजनाः।।3।।

अनेजदेकं मनसो जवीयो नैनद् देवा आप्नुवन् पूर्वमर्षत्।
तद्धावतोऽन्यानत्येति तिष्ठत्तस्मिन्नपो मातरिश्वा दधाति।।4।।

तदेजति तदु नैजति तद्दूरे तद्वन्तिके।
तदन्तरस्य सर्वस्य तदु सर्वस्यास्य बाह्यतः।। 5।।

यस्तु सर्वाणि भूतान्यात्मन्येवानुपश्यति।
सर्वभूतेषु चात्मानं ततो न विजुगुप्सते।। 6।।

यस्मिन् सर्वाणि भूतान्यात्मैवाभूद् विजानतः।
तत्र को मोहः कश्शोक एकत्वमनुपश्यतः।। 7।।

स पर्यगाच्छुक्रमकायमव्रणमस्नाविरं शुद्धमपापविद्धम्।
कविर्मनीषी परिभूस्स्वयम्भूर्याथातथ्यतोऽर्थान्
व्यदधाच्छाश्वतीभ्यस्समाभ्यः॥8॥

अन्धं तमः प्रविशन्ति येऽविद्यामुपासते।
ततो भूय इव ते तमो य उ विद्यायां रताः॥9॥

अन्यदेवाहुर्विद्ययाऽन्यदाहुरविद्यया।
इति शुश्रुम धीराणां ये नस्तद् विचचक्षिरे॥10॥

विद्यां चाविद्यां च यस्तद्वेदोभयं सह।
अविद्यया मृत्युं तीर्त्वा विद्ययाऽमृतमश्नुते॥11॥

अन्धं तमः प्रविशन्ति येऽसम्भूतिमुपासते।
ततो भूय इव ते तमो य उ सम्भूत्यां रताः॥12॥

अन्यदेवाहुस्सम्भवात् अन्यदाहुरसम्भवात्।
इति शुश्रुम धीराणां ये नस्तद् व्याचचक्षिरे॥13॥

सम्भूतिं च विनाशं च यस्तद् वेदोभयं सह।
विनाशेन मृत्युं तीर्त्वा सम्भूत्याऽमृतमश्नुते॥14॥

हिरणमयेन पात्रेण सत्यस्यापिहितं मुखम्।
तत्त्वं पूषन्नपावृणु सत्यधर्माय दृष्टये॥15॥

पूषन्नेकर्षे यम सूर्य प्राजापत्य व्यूह रश्मीन् समूह तेजः।
यत्ते रूपं कल्याणतमं तत्ते पश्यामि योऽसावसौपुरुषस्सोऽहमस्मि॥16॥

वायुरनिलममृतमथेदं भस्मान्तं शरीरम्।
ओं क्रतो स्मर कृतं स्मर क्रतो स्मर कृतं स्मर॥ 17 ॥

अग्ने नय सुपथा राये अस्मान् विश्वानि देव वयुनानि विद्वान्।
युयोध्यस्मज्जुहुराणमेनो भूयिष्ठां ते नम उक्तिं विधेम॥18॥

ॐ पूर्णमदः पूर्णमिदं पूर्णात् पूर्णमुदच्यते ।
पूर्णस्य पूर्णमादाय पूर्णमेवावशिष्यते ॥
ॐ शान्तिः शान्तिः शान्तिः।

ईशावास्योपनिषत्

तत्त्वविवेचनी हिन्दीव्याख्यासहित

येन व्याप्तमिदं सर्वं चेतनाऽचेतनात्मकम्।
विशुद्धसद्गुणौघं तं सीताराममहं भजे।।1।।
सूत्रवृत्तिकृतौ नत्वा व्यासबोधायनौ मुनी।
भाष्यकर्तारमाचार्यं प्रणमामि पुनः पुनः।।2।।
विद्याचार्यान् हनूमन्तं गङ्गां च श्रीगुरुं भजे।
ईशावास्यादिमन्त्राणां कुर्वे व्याख्यां मनोरमाम्।।3।।

शान्तिपाठ

ॐ पूर्णमदः पूर्णमिदं पूर्णात् पूर्णमुदच्यते ।
पूर्णस्य पूर्णमादाय पूर्णमेवावशिष्यते ।।
ॐ शान्तिः शान्तिः शान्तिः।

अर्थ

(1) **अदः**- वह कारण ब्रह्म(नामरूपविभागके अयोग्य अर्थात् सूक्ष्मचिदचिद्विशिष्ट ब्रह्म) **पूर्णम्**-पूर्ण है। **इदम्**-यह जगद्रूप कार्य ब्रह्म(नामरूपविभागके योग्य अर्थात् स्थूलचिदचिद्विशिष्ट ब्रह्म) **पूर्णम्**-पूर्ण है। **पूर्णात्**-पूर्णकारणसे **पूर्णम्**-पूर्णकार्यका **उदच्यते**-प्राकट्य होता है। **पूर्णस्य**-पूर्णकारणके **पूर्णम्**-पूर्ण कार्यको **आदाय**-लीन करके **पूर्णमेव**-पूर्ण ही **अवशिष्यते**- शेष रहता है।

(2) अदः- त्रिपादविभूतिस्थ परवासुदेवस्वरूप परब्रह्म **पूर्णम्**- पूर्ण है। **इदम्**- हृदयमें रहने वाला अन्तर्यामी **पूर्णम्**-पूर्ण है। **पूर्णात्**-पूर्ण परमात्मासे **पूर्णम्**-पूर्ण व्यूहोंका **उदच्यते**-प्रादुर्भाव होता है। **पूर्णस्य**-पूर्ण परमात्मा के **पूर्णम्**-रामकृष्णादि पूर्ण अवतारोंको **आदाय**-अपने हेतुरूपसे स्वीकार करके **पूर्णम् एव**-पूर्ण अर्चावतार ही **अवशिष्यते**-सर्वसुलभ होने के कारण प्रधानरूपसे शेष रहता है।

'मैं स्वतंत्र हूँ अथवा भगवान्‌से अतिरिक्त किसीके अधीन हूँ' इस भ्रान्ति के कारण जीव अनादिकालसे दुस्तर संसारचक्रमें परिभ्रमण करते आया है। जब वह दावानलके समान असार संसारसे अत्यन्त संतप्त होकर अपने उद्धारके लिए तत्त्वकी जिज्ञासासे श्रोत्रिय-ब्रह्मनिष्ठ सद्‌गुरु आचार्यके शरणापन्न होता है। तब उस शिष्यकी भ्रान्तिकी निवृत्तिके लिए परमात्माके अधीन स्वरूप[1], स्थिति[2], और प्रवृत्तिवाले[3] जगत्‌का तथा मुमुक्षुके लिए अनुकरणीय वैराग्यभूषित आचरणका उपदेश किया जाता है-

प्रथमो मन्त्रः

ईशावास्यमिदं सर्वं यत् किञ्च जगत्यां जगत्।
तेन त्यक्तेन भुञ्जीथा मा गृधः कस्यस्विद् धनम्॥1॥

अर्थ

जगत्याम्- सम्पूर्ण ब्रह्माण्डमें **यत् किञ्च**-जो कुछ **जगत्**-जड़चेतन पदार्थ है। **इदं सर्वम्**-यह सब **ईशा**-सर्वनियन्ता परमात्मासे **वास्यम्**-व्याप्त है। अल्पत्व, अस्थिरत्व आदि दोषोंके कारण **त्यक्तेन तेन**-त्याग किये गए भोग्य पदार्थों से युक्त जैसे होकर उन भोग्य पदार्थोंको **भुञ्जीथाः**-भोगते रहो **कस्यस्विद्**-किसीके भी **धनम्**-धनकी **मा गृधः**-आकाङ्क्षा मत करो।

---

1. स्वासाधारणस्वभावैर्निरूप्यं धर्मि (र.र.),
2. कालान्तरेऽपि विद्यमानता (र.र.),
3. व्यापारः (र.र.)

व्याख्या

ब्रह्मात्मक जगत्-जगती का अर्थ होता है- पृथ्वी। यह अन्य लोकोंका उपलक्षण[1] है। जगत् का अर्थ होता है–स्वरूपतः अथवा धर्मतः अन्यथाभाव(परिणाम)को प्राप्त होने वाली वस्तु–**जगत् स्वरूपतो धर्मतो वा अन्यथात्वं गच्छत्**(वे.भा.)। भोग्य[2], भोगोपकरण[3] तथा भोगस्थान[4] बनने के लिए अचेतन प्रकृतिका महदादिरूपोंमें स्वरूपतः परिणाम होता है। अणु जीव हृदयमें निवास करता है। जिस प्रकार दीपक कमरेके एक भागमें रहता है किन्तु उसके आश्रित रहनेवाली प्रभा सम्पूर्ण कमरेमें व्याप्त रहती है। उसी प्रकार अणु ज्ञानरूप जीवात्मा-हृदयमें रहता है किन्तु उसके आश्रित रहनेवाला धर्मभूतज्ञान समग्र शरीरमें व्याप्त रहता है। जीव इसके द्वारा ही सम्पूर्ण विषयों का अनुभव करता है। कोई जीव अधिक ज्ञानवाला होता है और कोई अल्पज्ञानवाला होता है। इसका कारण धर्मभूतज्ञानका संकोच और विकासरूप परिणाम है। इसे ही संसारी जीव का धर्मतः परिणाम कहा जाता है। यह संकोच और विकास पूर्व कर्मके कारण सम्भव होता है। कूटस्थ(निर्विकार), चेतन जीवात्मस्वरूपका परिणाम नहीं होता है किन्तु बद्धावस्थामें उसके धर्मभूतज्ञानका अनादि कर्मरूप अज्ञानके कारण सुख, दुःख, मोह तथा इच्छादि विविध रूपोंमें परिणाम होता है। इस प्रकार जगत् पद अचेतन प्रकृति तथा चेतन जीवात्मा का बोधक है।

'ईश् ऐश्वर्ये' धातुसे ईट् शब्द् निष्पन्न होता है। नियमन अर्थात् शासन करनेवालेको ईट् कहा जाता है–**ईष्टे इति ईट्**। तृतीया विभक्तिके एक वचनमें ईशा शब्द बनता है। सम्पूर्ण जगत् परमात्मामें निवास करता है और उसे निवास कराने वाले परमात्मा हैं। अर्थात् जगत् के निवास करनेके प्रयोजक कर्ता परमात्मा हैं। णिजन्त 'वस् निवासे' धातुसे कर्ममें ण्यत् प्रत्यय होकर वास्यम् शब्द निष्पन्न होता है। व्यापक ब्रह्ममें रहने

1. स्वबोधकत्वे सति स्वेतरबोधकत्वम् उपलक्षणत्वम्।
2. शब्दादि विषय भोग्य पदार्थ हैं।
3. चक्षु आदि इन्द्रियाँ भोग की उपकरण हैं।
4. शरीर और लोक भोग के स्थान हैं।

वाला जगत् उससे व्याप्त होकर ही रहता है। इस प्रकार वास्यम्[1] का व्याप्त अर्थ फलित होता है। ब्रह्मके अधीन जगत्की स्थिति है और वह ब्रह्मसे जगत्की अपृथक्सिद्धिके कारण है। अपृथक्सिद्धिकी कारण व्याप्ति है। सबमें ब्रह्मकी व्याप्ति सर्वभूतान्तरात्मत्वरूप है। जैसे शरीर की शरीरी जीवात्मासे पृथक्सिद्धि नही हो सकती है, वैसे ही व्याप्य शरीरभूत जगत्की व्यापक शरीरी ब्रह्मसे पृथक्सिद्धि नहीं हो सकती है। इस अपृथक्सिद्धिके कारण ही ब्रह्मके अधीन जगत्की स्थिति है। भगवान् सभी पदार्थोंमें व्याप्त होकर विद्यमान रहते हैं। इस कारण उनके व्यापकत्वका बोधक 'वासुदेव' नाम शास्त्रमें प्रसिद्ध है क्योंकि परमात्मा सभी वस्तुओंमें हैं और सब कुछ परमात्मामें है, इसकारण विद्वान् उसका वासुदेव नाम कहते हैं- **सर्वत्रासौ समस्तं च वसत्यत्रेति वै यतः। ततस्स वासुदेवेति विद्वद्भिः परिपठ्यते॥** (वि.पु. 1.2.12) इस श्लोकमें 'वसत्यत्रेति' यह अंश ईशावास्यम् का उपबृंहण है। 'इदं सर्वम्' इन पदोंके द्वारा भोक्ता चेतन तथा भोग्य अचेतनको ग्रहण किया जाता है। भोक्ता जीव, भोग्य अचेतन तथा प्रेरक परमात्माको जानकर– **भोक्ता भोग्यं प्रेरितारं च मत्वा**(श्वे. उ. 1.12) परमात्मा प्रकृति और जीवका स्वामी है तथा गुणोंसे पूर्ण है- **प्रधानक्षेत्रज्ञपतिर्गुणेशः**(श्वे.उ. 6.16)। परमात्मा नित्योंमें नित्य है और चेतनों में चेतन है- **नित्यो नित्यानां चेतनश्चेतनानाम्** (क.उ. 2.2.13)। परमात्मा चेतनाचेतन सबका स्वामी है, आत्मा है और ईश्वर है **पतिं विश्वस्यात्मेश्वरम्** (तै.ना.उ. 92) इत्यादि श्रुतियोंके द्वारा चेतन और

---

1. 'वस् आच्छादने' धातुसे ण्यत् प्रत्यय करने पर भी वास्यम् शब्द की सिद्धि होती है। जैसे - वस्त्रको धारण करता है- 'वस्त्रं वस्ते' इस प्रयोगमें और मुश्किलसे धारण करने योग्य फटी धोतीको धारण करके- **शाटीमाच्छाद्य दुःश्छदाम्**(वा. रा. 2.32.32)। यहाँ वस् धातुका धारण करना अर्थ है, वैसे ही ईश्वरके द्वारा धारण करने योग्य- **ईशावास्यम्** यहाँ भी वस् धातु का धारण करना ही अर्थ है। धार्य वस्तु धारणकर्ताके अतिशय(प्रसन्नता)का आधान करनेवाली होती है और ऐसी अतिशयकी आधायक वस्तु भगवान्की शेष सिद्ध होती है। ऐसा होने पर ईश्वरके द्वारा धार्य जगत्का मिथ्यात्व नहीं होता है। अतः इस मन्त्रके अनुसार जगत्को मिथ्या कहना ही भ्रान्ति है।

अचेतनका परमात्मासे भेद प्रतिपादित है। ब्रह्मासे लेकर तृणपर्यन्त जो भी भोक्ता तथा भोग्यरूप जगत् है। प्रत्यक्षादि प्रमाणसे सिद्ध तथा अचिन्त्य, विविध-विचित्र रचनावाला यह सम्पूर्ण जगत् सर्वनियन्ता भगवान् पुरुषोत्तमसे व्याप्त है। सबके धारक परमात्मामें जो निवास करता है, वह परमात्मा से धार्य होता है और उसी नियन्ता परमात्मासे जो व्याप्त होता है, वह नियाम्य होता है। इस प्रकार 'वास्यम्' पदसे जगत्का धार्यत्व और नियाम्यत्व भी सिद्ध होता है। अन्दर और बाहर सब ओरसे जगत्को व्याप्त करके नारायण स्थित हैं- **अन्तर्बहिश्च तत्सर्वं व्याप्य नारायणः स्थितः**(तै. ना.उ. 94) ब्रह्मके द्वारा नियाम्य सम्पूर्ण जगत् ब्रह्मात्मक(ब्रह्म आत्मा नियन्ता यस्य सः) अर्थात् ब्रह्मका शरीर है। ब्रह्म शरीरी है, चेतनाचेतनरूप जगत् उनका शरीर है। अब्रह्मात्मक कुछ भी नहीं है, इस अर्थकी दृढ़ताके लिए मन्त्रमें 'यत् किञ्च' कहा गया है। सब कुछ ब्रह्मात्मक है। इन्द्रियाँ, मन, बुद्धि, सत्त्व, तेज, बल और धृतिको ब्रह्मात्मक कहते हैं । अचेतन शरीर और चेतन जीव को भी ब्रह्मात्मक कहते हैं–**इन्द्रियाणि मनो बुद्धिः सत्त्वं तेजो बलं धृतिः वासुदेवात्मकान्याहुः क्षेत्रं क्षेत्रज्ञमेव च**(वि.स.ना. 136) इस प्रकार ब्रह्मके अधीन जगत्का बोध कराके मुमुक्षुके अनुकरणीय वैराग्यभूषित आचरणका उपदेश किया जाता है–

वैराग्यभूषित आचरण

सांसारिक पदार्थ मुमुक्षुके भोग्य नहीं हैं, उनको भ्रमसे भोग्य समझ रखा है। इन विषयोंका त्याग करना चाहिए। दोषयुक्त वस्तुका ही त्याग किया जाता है, दोषरहित और गुणवान् वस्तुका त्याग नहीं किया जाता। अल्पत्व, अस्थिरत्व, दुःखमूलत्व, दुःखमिश्रत्व, दुःखोदर्कत्व, देहात्मबुद्धिमूलत्व और स्वाभाविक ब्रह्मानुभव-विरुद्धत्व ये सांसारिक विषयोंके सात दोष होते हैं। ये विषय आत्मस्वरूपकी अपेक्षा अत्यन्त अल्प और अस्थिर होते हैं। ये दुःखसे ही अर्जित किये जाते हैं। इनके भोगनेमें भयादिके कारण दुःख होता है और इनके भोगका परिणाम भी दुःख होता है। देहात्मबुद्धि होने पर इनका संचय और उपभोग होता है। जीवात्माको जो स्वभावतः ब्रह्मानुभव

प्राप्त है, उसके विरोधी भी ये हैं। इन दोषों के कारण जगत्का त्याग किया जाता है। जगत् त्यक्त होनेपर उसका भोग कैसे संभव होगा? श्रुति तो भुञ्जीथाः[1] इस प्रकार भोग करने को कहती है। इसलिए मनसे जगत्का त्याग किया जाता है और केवल बाह्यदृष्टिसे उसे ग्रहण किया जाता है। उक्त दोषोंके कारण मनसे त्यक्त जगत्से युक्त जैसे होकर भगवद्-उपासनार्थ देहधारण के लिए उपयोगी शास्त्रीय विधि से अर्जित भोग्य पदार्थोंका उपयोग करने का आदेश वेद भगवान् प्रदान करते हैं। शास्त्र **विषयान् विषवत् त्यज (अ.गी. 2)** ऐसा आदेश देते हैं किन्तु भोजन न करने से देहधारण ही असंभव होगा और इस स्थितिमें ईश्वराराधना न होनेसे परमपुरुषार्थकी प्राप्ति नहीं होगी और ऐसा होनेसे मानवजीवन भी विफल हो जायेगा। अनिष्टकारी विषयोंका उपभोग करना ही नहीं चाहिए किन्तु दैनिक कृत्यादिके लिए चलना ही होगा और चलनेके लिए चक्षुसे देखना ही होगा। इस प्रकार विषयों का सर्वथा त्याग असंभव है। इसलिए गीता में कहा गया है कि रागद्वेषसे रहित तथा वशमें की हुई इन्द्रियोंके द्वारा अनिवार्य विषयोंका सेवन करते हुए स्वाधीन मनवाला मनुष्य अन्तःकरण की निर्मलताको प्राप्त करता है- **'रागद्वेषवियुक्तैस्तु विषयानिन्द्रियैश्चरन्। आत्मवश्यैर्विधेयात्मा प्रसादमधिगच्छति॥**(गी. 2.64) इस गीतावचनके अनुसार देहधारणका साधन और ब्रह्मविद्यामें उपयोगी अन्तःकरणकी शुद्धिका साधन भी शास्त्रविहित अपरिहार्य विषयोंका उपभोग है। इन विषयोंके सेवनसे ही देहधारण संभव है और देहधारण होने पर ही ब्रह्मविद्या(ब्रह्मोपासना) संभव है। उपयोग किए जानेवाले विषय शास्त्रीय विधिसे ही अर्जित होने चाहिए। चोरी, बेईमानी आदि निषिद्ध रीति से अर्जित नहीं होने चाहिए। इनके सेवनसे अन्तःकरण मलिन होता है और इस कारण उपासनाकी निष्पत्ति नहीं होती है। देहधारणके लिए उपयोगी अन्नपानादि पदार्थोंका

---

1. **भुञ्जीथाः- पालयेथाः** (शां.भा.)। भुज् धातुके दो अर्थ हैं- पालन और भक्षण (भोगना), **भुजोऽनवने** (अ.सू. 1.3.66) यह पाणिनीयसूत्र पालन भिन्न अर्थमें भुज् धातुसे आत्मनेपदको कहता है, अतः भुञ्जीथाः का पालयेथाः अर्थ नहीं हो सकता है।

और शास्त्रीय व्यवस्थाके अनुसार याग, दान, होम तथा अर्चना आदिके लिए उपयोगी पत्रपुष्पादि और परिजन आदि का उपयोग करें[1]।

मुमुक्षु अपने सम्बन्धी अथवा असम्बन्धी राजा आदि किसीके भी धनकी इच्छा न करे। यहाँ धनकी इच्छाके त्यागका अर्थ है–परमात्मासे भिन्न सभी प्रकारके भोग्य पदार्थोंकी इच्छाका त्याग। मनुष्य का जिस पदार्थमें राग होता है, उसीको प्राप्त करनेकी इच्छा करता है। इस प्रकार इच्छाका कारण राग ज्ञात होता है। धनादि भोग्य पदार्थोंमें राग न होने पर ही इच्छाका अभाव होगा। श्रेष्ठ वस्तुमें राग होनेपर निकृष्ट वस्तुमें रागका अभाव होता है। इस नियमके अनुसार परमात्मामें अनुराग होनेपर ही भोग्य पदार्थोंमें स्थायी वैराग्य संभव है। इस प्रकार मुमुक्षुके लिए वैराग्यका भी उपदेश अपेक्षित होता है।

परमात्मामें जो अनुरक्त है तथा अन्य विषयोंसे विरक्त हैं– **परमात्मनि यो रक्तो विरक्तोऽपरमात्मनि**(ना.प.उ. 3.18) इस प्रकार परमात्मामें अनुराग तथा विषयोंसे वैराग्य वर्णित है। धर्मराज अपने सेवकोंसे कहते हैं कि जो दुर्बुद्धि अपने परम सुहृद्, बन्धु, पत्नी, पुत्र, पुत्री, पिता, माता और सेवकोंके समक्ष धनकी तृष्णाको प्रकट करता है। उस दुराचारीको भगवान्का भक्त मत समझो–**परमसुहृदि बान्धवे कलत्रे सुततनया- पितृमातृभृत्यवर्गे। शठमतिरुपयाति योऽर्थतृष्णां तमधमचेष्टमवेहि नास्य भक्तम्**॥(वि.पु. 3.7.30) इस प्रकार विष्णुपुराण में धनकी इच्छाको भगवत्प्राप्तिका विरोधी कहा गया है और ईशावास्यका यह मन्त्र उसके त्यागको कहता है।

प्रिय वस्तु ही अनुभाव्य(भोग्य) होती है। परमात्मा निरतिशय प्रिय होनेसे निरतिशय अनुभाव्य है। इस कारण 'जगत्में जो कुछ जड, चेतन पदार्थ है, वह सब परमात्मा से व्याप्त है। दोषोंके कारण त्यक्त पदार्थोंसे

---

1. **पुत्राद्येषणात्रयसंन्यास एवाधिकारो न कर्मसु**(शां.भा.)। वस्तुतः स्वरूपतः सर्वकर्मसंन्यासरूप त्यागका बोधक **ईशावास्यम्** वाक्य नहीं है क्योंकि ऐसा मानने पर आगे **मा गृधः कस्यास्विद् धनम्** इस प्रकार धनग्रहणकी इच्छाका निषेध पुनरुक्ति दोष होनेसे पिष्टपेषण ही होगा। प्राप्ति होने पर ही निषेध होता है- प्राप्तौ सत्यां निषेधः। सर्वके त्यागका विधान होनेपर धनग्रहण मात्रकी पुनः प्राप्ति ही नहीं है, अतः उसका निषेध व्यर्थ होगा।

युक्त जैसे होकर परमात्माका अनुभव करो, किसी के भी धनकी इच्छा मत करो।' इस प्रकार भी उक्त श्रुतिका अर्थ होता है। पूर्व अर्थसे इसमें केवल इतना वैलक्षण्य है कि पूर्वमें सांसारिक पदार्थोंका अनुभव कहा गया है और यहाँ परमात्माका अनुभव कहा जाता है। यहाँ उपासनाकालिक ब्रह्मानुभव विवक्षित है, मुक्तिकालिक विवक्षित नहीं है। निरतिशय प्रिय परब्रह्मसे यह जगत् व्याप्य है। इससे युक्त जैसे होकर प्रीत्यात्मक उपासनाके द्वारा निरतिशय प्रिय परब्रह्मके अनुभवसे ही मानव-जीवनकी सफलता है।

जगत्के अन्दर शरीर-इन्द्रिय भी हैं। इनके त्यागसे ब्रह्मानुसन्धान ही नहीं होगा। ब्रह्मोपासनाके लिए इनकी उपयोगिता है। दोषोंके कारण मनसे त्यक्त इनसे युक्त जैसे होकर सदा सभीके निवासस्थान, व्यापक, सर्वात्मा ब्रह्मका ही अनुभव करना चाहिए और सांसारिक पदार्थोंके अनुभवकी इच्छा नहीं करनी चाहिए। 'आनन्दरूप ब्रह्म है' ऐसा अनुभव किया- **आनन्दो ब्रह्मेति व्यजानात्**(तै.उ. 3.6), तुम्हारा अन्तर्यामी परमात्मा निरतिशय भोग्य है- **एष त आत्मा अन्तर्याम्यमृतः**(बृ.उ. 3.7.7), इस लोकमें उपासकके जो भोग्य पदार्थ हैं और मनोरथमात्रके विषय जो पदार्थ इस लोकमें नहीं हैं, वे सभी भोग्यसमुदाय इस परमात्मामें स्थित हैं–**यच्चास्येहास्ति यच्च नास्ति सर्वं तदस्मिन् समाहितम्।**(छां.उ. 8.1.3) इत्यादि श्रुतियोंसे परमात्मा निरतिशय भोग्य सिद्ध होते हैं। आनन्दरूप(सुखरूप) वस्तु अनुभाव्य होती है, परमात्मा निरतिशय आनन्दरूप होने से निरतिशय अनुभाव्य हैं। परमात्माका ज्ञान होनेपर होनेपर सम्पूर्ण जगत्का ज्ञान हो जाता है–**आत्मनः..... विज्ञानेन इदं सर्वं विदितं भवति**(बृ.उ. 2.4.5)। इस प्रकार परमात्माके अनुभवसे ही ज्ञानकी पराकाष्ठा कही जाती है। इसलिए श्रुति परमात्माका ही अनुभव करनेको कहती है। **जो आनन्द सिन्धु सुखराशी**(रा.च.मा. 1.197.5.), **सो सुख धाम राम अस नामा, अखिल लोकदायक विश्रामा**(रा.च.मा. 1.197.6) सुखधाम परब्रह्मके अनुभवसे ही दुःखोंकी आत्यन्तिकी निवृत्तिरूप विश्राम प्राप्त होता है। जगत् हमारा भोग्य है, हम इसके स्वामी हैं। यह नियत हमारे अधीन है और हम स्वतन्त्र हैं। ऐसा समझना भ्रान्ति है। इसलिए 'हे प्रभो! मैं आपका ही हूँ। यह सब आपका ही है।' इस भावना से आसक्तिरहित होकर भोग्य

पदार्थोंका भगवदुपासनाकी साधन जीवनयात्रा के लिए उपयोग करो, शास्त्रमर्यादाका अतिक्रमण करके उपयोग मत करो।

भगवान् जगत्की रचना करके उसमें अनुप्रविष्ट हो गये–**तत्सृष्ट्वा तदेवानुप्राविशत्** (तै.उ. 2.6.2) इत्यादि श्रुतियाँ जड़, चेतन सभी पदार्थोंमें परमात्माका अन्तर्यामीरूपसे अनुप्रवेश कहती हैं। सभीमें अनुप्रविष्ट होकर निवास करनेवाले परमात्मा उनका नियमन(शासन) करते हैं। इस प्रकार जगत् ब्रह्मके अधीन तथा जगत्के शेषी[1] ब्रह्म सिद्ध होते हैं। परतन्त्र जगत् ब्रह्मका शेष सिद्ध होता है। इस कारण श्रुतप्रकाशिका(3.4.14) में **ईशेन आवास्यम् ईश्वरपरतन्त्रम् इत्यर्थः** ऐसा कहा गया है।

अब ब्रह्मवेत्ताके लिए कर्मोंमें आसक्ति, फल और कर्तृत्वबुद्धिके त्यागपूर्वक ब्रह्मविद्या का अङ्गभूत कर्म जीवनपर्यन्त अनुष्ठेय कहा जाता है–

द्वितीयो मन्त्रः

कुर्वन्नेवेह कर्माणि जिजीविषेच्छतं समाः।
एवं त्वयि नान्यथेतोऽस्ति न कर्म लिप्यते नरे॥ 2॥

अर्थ

शतं समाः- सौ वर्ष तक **कर्माणि**- कर्मोंको **कुर्वन् एव**- करते हुए ही **इह**- इस लोक में **जिजीविषेत्**- जीनेकी इच्छा करे। **त्वयि**[2]- ब्रह्मवेत्ता अधिकारी के लिए **एवम्**- कर्मानुष्ठान उचित है। **इतः**- कर्मानुष्ठान से **अन्यथा**- अन्य उपाय **न अस्ति**-नहीं है। **कर्म**- निष्काम कर्म **नरे**-आसक्ति रहित ब्रह्मविद्यानिष्ठ पुरुषमें **न लिप्यते**-लिपायमान नहीं होता है।

---

1. इच्छाके अनुसार जिसका उपयोग किया जा सके, उसे शेष कहते हैं- **यथेष्टविनियोगार्हः शेषः**। जीव भगवानका शेष है, उसके शेषी भगवान हैं।
2. त्वयि विषये (सु.)

व्याख्या

कर्म- शास्त्रके द्वारा विहित कर्म चार प्रकार के होते हैं–1. नित्य 2. नैमित्तिक 3.काम्य और 4. प्रायश्चित्त।

1. नित्य कर्म

प्रत्येक दिवस अथवा जीवनको निमित्त मानकर जिन कर्मोंका विधान किया जाता है, वे नित्य कर्म कहलाते हैं। जैसे- प्रतिदिन सन्ध्योपासन करना चाहिए- **अहरहः सन्ध्याम् उपासीत**, जीवनपर्यन्त अग्निहोत्र करना चाहिए- **यावज्जीवम् अग्निहोत्रं जुहुयात्**, जीवनपर्यन्त दर्शपूर्णमास याग करना चाहिए- **यावज्जीवं दर्शपूर्णमासाभ्यां यजेत** इत्यादि वाक्योंसे विहित सन्ध्योपासन, अग्निहोत्र तथा दर्शपूर्णमास आदि नित्यकर्म हैं।

2. नैमित्तिक कर्म

निमित्तविशेषके उपस्थित होनेपर जिन कर्मोंका विधान किया जाता है, वे नैमित्तिक कर्म कहे जाते हैं। जैसे- ग्रहण लगनेपर स्नान करना चाहिए- **राहूपरागे स्नायात्**। पुत्र उत्पन्न होनेपर वैश्वानर देवताको द्वादशकपालोंमें पुरोडाश अर्पित करें- **वैश्वानरं द्वादशकपालं निर्वपेत् पुत्रे जाते** इत्यादि वाक्योंसे विहित ग्रहणस्नान तथा जातेष्टि आदि नैमित्तिक कर्म हैं।

जिन कर्मोंके न करनेपर प्रत्यवाय(पाप) होता है, वे नित्यकर्म हैं। यह नित्यकर्मका लक्षण उचित नहीं है क्योंकि इसकी ग्रहणस्नानादि नैमित्तिक कर्म में अतिव्याप्ति होती है। नैमित्तिक कर्म भी विहित है, उसके न करने पर भी प्रत्यवाय होता है- **अकुर्वन् विहितं कर्म निन्दितं च समाचरन्। प्रसक्तश्चेन्द्रियार्थेषु प्रायश्चित्तीयते नरः।**(म.स्मृ.11.44) इस प्रकार मनुस्मृतिमें विहित नित्य, नैमित्तिक कर्मोंके न करने से होनेवाले पापोंका प्रायश्चित कहा गया है- **नित्यं यद् विहितं सन्ध्योपासनादि नैमित्तिकं च शवस्पर्शादौ स्नानादि, तदकुर्वन् .... मनुष्यजातिमात्र**

प्रायश्चित्तम् अर्हति(म.मु. 11.44)। नित्यकर्मोंका निमित्त नियत होता है और नैमित्तिक कर्मोंका निमित्त अनियत होता है। दोनों प्रकारके कर्म अवश्य करणीय होते हैं।

नित्य, नैमित्तिक कर्म न करनेसे प्रत्यवाय होता है। अतः उनके करनेपर प्रत्यवायका परिहाररूप फल जानना चाहिए। विहित नित्य, नैमित्तिक कर्मसे पापक्षय होता है- **धर्मेण पापमपनुदति**(तै.ना.उ. 144) पूर्वमीमांसाके टुपटीका, तन्त्ररत्न और शास्त्रदीपिका(2.4.1) ग्रन्थमें नित्य कर्मोंका फल पापक्षय कहा गया है। नित्य कर्मोंके न करनेपर प्रत्यवाय होता है, उनके करनेपर प्रत्यवायका प्रागभाव बना रहता है, इससे अतिरिक्त नित्यकर्मोंका कोई फल नहीं होता है। ऐसा नैयायिक कहते हैं। पूर्वमीमांसाके न्यायसुधा ग्रन्थ में नित्य कर्मोंका फल प्रत्यवायके प्रागभावका परिपालन कहा गया है किन्तु विश्वजित् न्याय[1](पू.मी. 4.3.5) से नित्यकर्मोंका फल स्वर्ग तथा रात्रिसत्रन्याय[2](पू.मी. 4.3.8) से पापनिवृत्ति फल सिद्ध होता है।

मनुष्यों का पाप कर्म नष्ट होने पर ज्ञान उत्पन्न होता है- **ज्ञानमुत्पद्यते पुंसां क्षयात् पापस्य कर्मणः**(म.भा.शां 204.8)(ग.पु. 229.6)। नित्य, नैमित्तिक कर्मोंसे पापक्षय करते हुए– **नित्यनैमित्तिकैरेव कुर्वाणो दुरितक्षयम्।** नित्य, नैमित्तिक कर्मोंसे पापनिवृत्त होने पर ज्ञान उत्पन्न होता है–**कषाये**

---

1. **विश्वजिता यजेत** यह विधि वाक्य विश्वजित् याग का विधान करता है किन्तु यहाँ फल का श्रवण न होने से विधि का प्रवर्तकत्व ही असिद्ध है, उसकी सिद्धि के लिए फल की कल्पना की जाती है। वह फल स्वर्ग(सुख) होगा क्योंकि स्वर्ग सामान्यतः सभी को इष्ट हैं-**स स्वर्गः स्यात् सर्वान् प्रत्यविशिष्टत्वात्(जै. सू. 4.3.15)**। जहाँ विधिवाक्य और अर्थवादवाक्य दोनों में फल श्रूयमाण नही होता है, वहाँ विश्वजित् न्यायसे स्वर्ग फल माना जाता है।
2. **ज्योतिगौरायुरिति त्र्यहा भवन्ति**- यह विधि वाक्य रात्रिसत्र याग का विधान करता है। इसके समीप यह अर्थवाद वाक्य पठित है- जो रात्रिसत्र याग करते हैं, वे प्रतिष्ठाको प्राप्त करते हैं- **प्रतिष्ठन्ति ह वा य एता रात्रीरुपयन्ति।** विधि वाक्य में फल श्रूयमाण न होने से यहाँ पर यह शंका होती है कि विश्वजित् न्याय से रात्रिसत्र याग का फल स्वर्ग माना जाय अथवा अर्थवाद वाक्य में पठित प्रतिष्ठा फल? आत्रेय आचार्य रात्रिसत्र याग का अर्थवाद में पठित स्वर्ग फल

कर्मभिः पक्वे ततो ज्ञानं प्रवर्तते। इन वचनोंसे नित्य, नैमित्तिक कर्मोंका फल पूर्वमें किए गये पापकी निवृत्ति समझनी चाहिए। सन्ध्या न करनेवाला मनुष्य सदा अशुद्ध रहता है। उसे किसी भी कर्म करनेका अधिकार नहीं होता है। वह जिस शास्त्रीय कर्म को करता है, उसका फल प्राप्त नहीं करता है–**सन्ध्याहीनोऽशुचिर्नित्यम् अनर्हः सर्वकर्मसु। यदन्यत् कुरुते कर्म न तस्य फलमश्नुते॥**(द.स्मृ. 2.19) इस प्रकार सन्ध्यावन्दन कर्मका फल पवित्रता तथा कर्मान्तरमें अधिकार कहा गया है। **सन्ध्यावन्दनादेः कर्मान्तराधिकारसम्पादनं फलम्।**(श्रीभा.3.1.11) इस प्रकार श्रीभाष्यमें भी नित्यकर्मोंका फल कर्मान्तरमें अधिकार प्राप्त करना कहा है। **प्राजापत्यं गृहस्थानाम्**(वि.पु. 1.6.37)इत्यादि प्रकारसे नित्यनैमित्तिक कर्मोंके प्रजापतिलोककी प्राप्ति आदि फल कहे गये हैं। वेदोक्त अपने नित्यकर्मको आलस्यरहित होकर करना चाहिए क्योंकि यथाशक्ति उनका अनुष्ठान करने से मनुष्य मोक्षको प्राप्त करता है–**वेदोदितं स्वकं कर्म नित्यं कुर्यादतन्द्रितः। तद्धि कुर्वन् यथाशक्ति प्राप्नोति परमां गतिम्॥**(म.स्मृ. 4.14) परमात्मा को जानकर ही मृत्युका अतिक्रमण होता है, मोक्षके लिए ज्ञानसे अन्य उपाय नहीं है- **तमेव विदित्वाऽतिमृत्युमेति नान्यः पन्था विद्यतेऽयनाय।**(श्वे.उ. 3.8) इस प्रकार मोक्षका साधन ज्ञान ही कहा गया है। अतः कर्म ज्ञानकी उत्पत्तिके द्वारा मोक्षके परम्परया साधन होते हैं।

मानते है क्योंकि उस फल का ही निर्देश किया गया है और स्वर्ग फल का निर्देश न होने से उसकी कल्पना करनी होगी-**फलमात्रेयो निर्देशादश्रुतौ ह्यनुमानं स्यात्।**(जै.सू. 4.3.18)कल्पित फल की अपेक्षा सुने गये फल को ही स्वीकार करना उचित है। जहाँ विधि वाक्य में फल श्रूयमाण न हो और अर्थवाद वाक्य में फल श्रूयमाण हो, वहाँ रात्रिसत्र न्याय की प्रवृत्ति होती है। जैसे–सन्ध्योपासना के विधायक **अहरहः सन्ध्यामुपासीत** इस वाक्य में फल का श्रवण नहीं है। जो दृढ़संकल्पवाले नियमसे सन्ध्योपासना करते हैं, वे पापरहित हो जाते है और ब्रह्मविद्या के द्वारा दोषरहित ब्रह्मलोक को प्राप्त करते हैं- **सन्ध्यामुपासते ये तु सततं शंसितव्रताः। विधूत पापास्ते यान्ति ब्रह्मलोकमनामयम्।।** सन्ध्योपासन की विधि से सम्बन्ध रखने वाले इस अर्थवादवाक्य में सन्ध्योपासन का फल पापनिवृत्ति सुना जाता है। अतः रात्रिसत्र न्याय से सन्ध्योपासनरुप नित्य कर्म का पापनिवृत्ति फल माना जाता है।

कर्मोंकी मोक्षसाधनताका निषेध करनेवाले वचन उनकी अव्यवहित मोक्षसाधनताका निषेध करते हैं।

श्रीशंकराचार्य गीताभाष्य(6.1,18.2,6,9,66) में श्रीरामानुजाचार्य गीताभाष्य (2.41,47 और 18.12) में, श्रीवेदान्तदेशिक स्वामी तात्पर्यचन्द्रिका (18.2) में मधुसूदन सरस्वती, नीलकण्ठ, शंकरानन्द, सदानन्द और धनपतिसूरि गीताव्याख्या(18.9) में नित्यकर्मका प्रत्यवाय के प्रागभावसे अतिरिक्त फल स्वीकार करते हैं।

जीवनपर्यन्त अग्निहोत्र होम करना चाहिए- **यावज्जीवं अग्निहोत्रं जुहुयात्**। स्वर्गकी कामनावाला मनुष्य अग्निहोत्र होम करे- **अग्निहोत्रं जुहोति स्वर्गकामः।** इनमें प्रथम वाक्य नित्य अग्निहोत्रका और द्वितीय वाक्य काम्य अग्निहोत्रका विधायक है। एक ही कर्म नित्य है और काम्य भी। भोग्य पदार्थोंको चाहनेवाला मनुष्य स्वर्ग आदिके साधनरूपसे कर्मोंको करता है और ब्रह्मोपासक उपासनाके अङ्गरूपसे कर्मोंको करता है।

ब्रह्मविद्याके साधनभूत कर्म सभी मुमुक्षुओंके द्वारा अनुष्ठेय हैं। ब्रह्मचर्य आदि सभी आश्रमोंमें उनके कर्म नियत हैं। गृहस्थके लिए अग्निहोत्र है, संन्यासीके लिए नहीं किन्तु ईश्वरोपासना तथा वेदान्तका श्रवण, मननादि कर्म संन्यासी के लिए हैं ही। इस प्रकार कर्म, ज्ञान और भक्ति इनमें किसी भी योग का आश्रय लेनेवाले किसी भी आश्रमीके लिए नित्य, नैमित्तिक कर्मोंका सर्वथा अभाव नहीं है।

3. काम्य कर्म

फलको उद्देश्य करके विधान किये जानेवाले कर्म काम्य कर्म कहलाते हैं। जैसे–वर्षाकी कामनावाला मनुष्य कारीरी याग करे–**कारीर्या यजेत वृष्टिकामः**, स्वर्गकी कामनावाला मनुष्य ज्योतिष्टोम याग करे–**ज्योतिष्टोमेन स्वर्गकामो यजेत** इत्यादि वाक्योंसे विहित कारीरी और ज्योतिष्टोम यागादि काम्य कर्म हैं।

शंका–काम्यकर्मोंका फल होता ही है और यदि नित्य कर्मोंका भी फल माना जाए तो नित्य और काम्य कर्मका भेद कैसे सिद्ध होगा?

समाधान—उक्त दोनों कर्मोंका फल होनेपर भी उनमें यह भेद है कि फलको उद्देश्य करके काम्यकर्मका विधान किया जाता है और फलको उद्देश्य न करके नित्यकर्मका विधान किया जाता है।

4. प्रायश्चित्त कर्म

जो कर्म पापक्षयके साधन होते हैं, वे प्रायश्चित्त कर्म कहलाते हैं। प्रमाद मनुष्यका स्वभाव है, जिसके कारण वह विहित कर्मका त्याग और निषिद्ध कर्मका आचरण करता रहता है। उससे उत्पन्न पापोंसे मन दूषित होनेके कारण सन्मार्गकी ओर प्रवृत्ति नहीं होती है, बल्कि कालान्तरमें पापोंके दुष्परिणाम भोगने पड़ते हैं। इन पापोंकी निवृत्तिके लिए शास्त्रोंमें जिन कर्मोंका विधान किया जाता है, वे प्रायश्चित्त कर्म कहलाते हैं। जैसे- चान्द्रायण व्रत आदि।

ब्रह्मविद्या[1] का अङ्ग कर्म

काम्यकर्म बुभुक्षु के लिए है, मुमुक्षु के लिए नहीं। अतः उक्त चार प्रकारके कर्मोंमें काम्यकर्म को छोड़कर नित्यनैमित्तिकादि कर्म ब्रह्मविद्याके अङ्ग अर्थात् साधन होते हैं। मनुष्यकी आयु 100 वर्ष होती है—**शतायुः पुरुषः**(तै.ब्रा. 1.8.9) मनुष्यकी आयु प्रायः 100 वर्ष होनेके कारण श्रुतिमें 'शत' शब्द का प्रयोग है। 'शतं समाः' का तात्पर्य है—अपनी आयुकी समाप्तिपर्यन्त। अपनी आयुके समाप्ति पर्यन्त ब्रह्मविद्याके अङ्गभूत नित्य-नैमित्तिक कर्मोंको करते हुए ही इस लोकमें जीनेकी इच्छा करनी चाहिए। मुझे इस शरीरसे परमात्मसाक्षात्कार हो जाए, इसके लिए अगला शरीर ग्रहण करना न पड़े। इस प्रकार ब्रह्मवेत्ताको भी विद्याकी निष्पत्तिपर्यन्त

---

1. प्रत्यगात्मज्ञान और परमात्मज्ञानके भेद से शास्त्रोंमें द्विविध ज्ञान वर्णित है। प्रीतिरूपताको प्राप्त दर्शनसमानाकार परमात्मविषयक ज्ञान ही भक्ति कहा जाता है। कर्म, ज्ञान और भक्ति इन त्रिविध योगोंमें चरम योग यही है। यह भक्तियोग ही मोक्षका साधन है। इसे ही ब्रह्मज्ञान, ब्रह्मवेदन, ब्रह्मोपासना, ब्रह्मविद्या आदि शब्दों से कहा जाता है।

जीवन इष्ट होता है, इसका बोध कराने के लिए श्रुति 'जिजीविषेत्' कहती है। अप्राप्त अर्थ के प्रापक वेदके भागको विधि कहते है–**अप्राप्तार्थप्रापको वेदभागो विधिः** ब्रह्मविद्याकी निष्पत्तिके लिए ब्रह्मज्ञ पुरुषका जीवन तो रागतः प्राप्त है, अतः श्रुति उसका विधान नहीं करती है किन्तु पूर्व से प्राप्त 100 वर्षके जीवन का अनुवाद करके **कुर्वन्नेवेह कर्माणि** इस प्रकार ब्रह्मविद्या के अङ्गभूत कर्मोंका विधान **कर्माणि** इस प्रकार ब्रह्मविद्या के अङ्गभूत कर्मोंका विधान करती है।

कुर्वन्नेवेह कर्माणि यह श्रुतिवाक्य स्वतन्त्र कर्मयोगका विधान नहीं करता है क्योंकि वैसा माननेमें विशेष हेतुका अभाव है। यदि उक्त वाक्य स्वतन्त्र कर्मका विधायक होता तो श्रुति 'कर्माणि' ऐसा सामान्यरूप से न कहकर स्वर्गादि फलको उद्देश्य करके उसके साधनभूत कर्मको 'स्वर्गादिफलसाधन- भूतस्वतन्त्रकर्माणि' ऐसा कहती किन्तु श्रुति ऐसा नहीं कहती है, इससे सिद्ध होता है कि यह वाक्य स्वतन्त्र कर्मयोगका विधायक नहीं है, बल्कि **ईशावास्यमिदं सर्वम्** इस प्रकार ब्रह्मविद्याका प्रकरण है इसलिए प्रस्तुत वाक्य विद्याके साधनभूत कर्मका ही विधान करता है।

अन्तःकरण अशुद्ध रहते ब्रह्मविद्याकी निष्पत्ति नहीं हो सकती है। शास्त्रविहित कर्मोंसे ही अन्तःकरणकी शुद्धि होती है। अतः यह वाक्य कर्म करनेकी अनिवार्यताका प्रतिपादन करता है। कर्मोंसे जैसे-जैसे अन्तःकरणकी निर्मलता होती है, वैसे-वैसे ब्रह्मविद्या उत्कर्षताको प्राप्त होती है।

शास्त्रको प्रमाण माननेवाला मनुष्य निषिद्ध कर्मको छोड़कर शास्त्रके अनुसार आचरण करता है। बुभुक्षु फलकी कामनासे काम्यकर्म करता है, मुमुक्षु ऐसा नहीं करता है। ब्रह्मविद्यामें बुभुक्षुका अधिकार नहीं है अतः यहाँ उसका प्रसङ्ग भी नहीं है। नित्यनैमित्तिक कर्म जिस प्रकार बुभुक्षुके कर्तव्य हैं, उसी प्रकार मुमुक्षुके भी कर्तव्य हैं, इसीलिए **ईशावास्यमिदं सर्वम्** इस प्रकार ब्रह्मविद्याका आरम्भ करके उसके अङ्गभूत मुमुक्षुके कर्तव्य कर्मका **कुर्वन्नेवेह कर्माणि** इस प्रकार उपदेश किया जाता है। कर्मयोग, ज्ञानयोग और भक्तियोग(ब्रह्मविद्या) इन तीनोंके ही अङ्ग

नित्यनैमित्तिक कर्म हैं। इस विषयको 'तेरे लिए नित्यनैमित्तिक कर्म अनुष्ठेय हैं'- **एवं त्वयि** इस वाक्यसे भी कहा गया है और कर्मके आचरणसे अन्य उपाय नहीं है- **नान्यथेतोऽस्ति** इस व्यतिरेकसे दृढ़ किया गया है। तेरे लिए कर्मानुष्ठानसे अन्य उपाय नहीं है अर्थात् कर्म न करनेपर विद्या निष्पन्न नहीं हो सकती है।

काम्यकर्म भी स्वरूपतः बन्धनकारक नहीं होते हैं। फलकी कामनापूर्वक किये जाने पर वे विविध फलोंको प्रदान करके बन्धनकारक होते हैं। फलेच्छारहित होकर करनेपर वे भी अन्तःकरणकी निर्मलतामें हेतु होते हैं। अतः मुमुक्षु भी फलेच्छारहित होकर उनको कर सकता है। नित्यनैमित्तिक कर्म तो उसके लिए अनिवार्य ही हैं। वह फलका त्याग, कर्मोंमें ममताका त्याग और कर्तृत्वाभिमानके त्यागपूर्वक कर्मका आचरण करता है। 'कर्मसे जन्य स्वर्गादि फल मुझे नहीं चाहिए'। इस प्रकार फलका त्याग किया जाता है। 'मेरे अमुक फलका साधन यह मेरा कर्म है' इस प्रकार कर्ममें ममता होती है। जब फलका ही त्याग हो गया तो 'मेरे फलका साधन यह मेरा कर्म है' ऐसी भावना नहीं हो सकती है। इस भावना का न होना ही कर्ममें ममता का त्याग है। सर्वेश्वर परमात्मामें कर्तृत्वके अनुसन्धानसे अपने कर्तृत्वाभिमानका त्याग हो जाता है।

अपनेको कर्ता माननेपर फल और कर्ममें ममता होती है। अपनेको कर्ता न मानने पर फल और कर्ममें ममताका परित्याग हो जाता है। कर्तृत्वबुद्धि, ममता और फलका त्याग न करनेवाले मनुष्योंको नरकादि अनिष्टफल, स्वर्गादि इष्टफल तथा पशु, अन्नादि मिश्र फल कर्मानुष्ठानके पश्चात् प्राप्त होते हैं किन्तु कर्तृत्वादिका त्याग करनेवालोंको उक्त त्रिविध फल प्राप्त नहीं होते हैं-**अनिष्टमिष्टं मिश्रं च त्रिविधं कर्मणः फलम्। भवत्यत्यागिनां प्रेत्य न तु संन्यासिनां क्वचित्॥**(गी. 18.12)। अपने कर्ममें लगा हुआ मनुष्य परमपदकी प्राप्तिरूप संसिद्धिको प्राप्त करता है- **स्वे स्वे कर्मण्यभिरतः संसिद्धिं लभते नरः।**(गी. 18. 45) मेरे में कर्तृत्वादिको समझनेवाला मनुष्य सदा कर्म करते हुए मेरे अनुग्रहसे शाश्वत अव्ययपद अर्थात् मुझे प्राप्त करता है-**सर्वकर्माण्यपि**

सदा[1] कुर्वाणो मद्व्यपाश्रयः। मत्प्रसादादवाप्नोति शाश्वतं पदमव्ययम्॥ (गी. 18.56) इस प्रकार भगवान्ने कर्मोंको चित्तशुद्धि का साधन और ज्ञानोत्पत्तिके द्वारा मोक्षका साधन कहा है।

ज्ञानीके कर्मोंका अलेपकत्व

कर्मके अनुष्ठानसे ब्रह्मवेत्ताका भी बन्धन होगा, ऐसी शंका होनेपर कहा जाता है--**न कर्म लिप्यते नरे**[2]। विद्याके अङ्गरूपसे किया जाने वाला कर्म ब्रह्मवेत्ता मनुष्यमें लिपायमान नहीं होता है अपितु ब्रह्मविद्याका उत्पादक होता है।

नरे-त्वयि, न कर्म लिप्यत इतीतोऽन्यथा नास्ति। इदमेव तत्त्वम्, न तु स्तुतिमात्रम्(श्रु.प्र. 3.4.13)। इस प्रकार श्रीभाष्यके श्रुतप्रकाशिका-टीकाकार सुदर्शन सूरिने **एवं त्वयि नान्यथेतोऽस्ति न कर्म लिप्यते नरे** इस वचनको वास्तविक कथन माना है, स्तुतिमात्र नहीं।

रागरहित विवेकी मनुष्यके द्वारा ब्रह्मविद्यामें अनुपयोगी काम्य और निषिद्ध कर्मोंका बुद्धिपूर्वक अनुष्ठान संभव नहीं। जो पापकर्मसे निवृत्त नहीं है, वह ब्रह्मविद्यासे परमात्माको प्राप्त नहीं कर सकता है–**नाविरतो दुश्चरितात् ...प्रज्ञानेनैनम् आप्नुयात**(क.उ. 1.2.24) इस प्रकार कठोपनिषत् मन्त्रमें पापकर्मसे निवृत्ति भी ब्रह्मविद्याका अङ्ग कही गयी है, इसलिए पापाचरण संभव होने पर तदनुरूप प्रायश्चित्तसे उसकी निवृत्ति कर लेनी चाहिए। यदि भक्तियोगी(ब्रह्मविद्यानिष्ठ) प्रमादसे किञ्चिद् पाप करता है तो उसके प्रायश्चित्तके लिए भक्तियोगका ही आश्रय लेना चाहिए, अन्य कोई प्रयास नहीं करना चाहिए–**अपि चेत् पातकं किञ्चिद् योगी कुर्यात् प्रमादतः। योगमेव निषेवेत् नान्यं यत्नं समाचरेत्॥** इस प्रकार ब्रह्मविद्यारम्भसे उत्तरकालमें किये गए प्रमादसे जन्य पापोंका ही अश्लेष जानना चाहिए–**तदिदम् अश्लेषवचनं प्रामादिकविषयं मन्तव्यम्** (श्रीभा. 4.1.13) अतः

---

1. कर्मयोगावसानान्तमुख्योपायानवरुद्धकालेषु (रसा.)।
2. नरे न रमते इति नरः इति व्युत्पत्त्या निस्सङ्गे-ब्रह्मविदि(श्रु.प्र.)।

कदाचित् बुद्धिपूर्वक पाप होनेपर उसका प्रायश्चित्त अवश्य करना चाहिए।

शांकरमत—प्रकृत उपनिषत्का प्रथम मन्त्र ज्ञानीसे सम्बन्ध रखता है और द्वितीय मन्त्र कर्मीसे सम्बन्ध रखता है। ज्ञान और कर्मका अत्यन्तविरोध होनेके कारण एकके लिए दोनोंका विधान नहीं हो सकता है।

विशिष्टाद्वैत मत— यह कथन उचित नहीं है क्योंकि कर्तृत्वाभिमान, फल और कर्ममें ममता के त्यागपूर्वक अनुष्ठीयमान मुमुक्षुके कर्मोंका ज्ञानसे कोई भी विरोध नहीं है। कर्म तो चित्तशुद्धिके द्वारा ज्ञानकी निष्पत्तिमें सहायक ही होते हैं, विरोधी कदापि नहीं। अत: द्वितीय मन्त्र भी ज्ञानीके लिए ही है। इसी उपनिषद्का **विद्यां चाविद्यां च**(ई.उ. 11) यह 11वाँ मन्त्र ज्ञानी के लिए कर्म (अविद्या) और ज्ञान(विद्या) दोनोंको अनुष्ठेय कहता है।

शांकरमत— द्वितीय मन्त्रमें 'जिजीविषेत्' इस प्रकार जिजीविषा(जीनेकी इच्छा) कही गयी है। जिजीविषु(जीनेकी इच्छावाला) ही कर्मका अधिकारी होता है। ज्ञानीकी जिजीविषा न होनेके कारण द्वितीय मन्त्र उससे सम्बन्ध नहीं रखता है।

विशिष्टाद्वैत मत— यह कथन भी उचित नहीं है क्योंकि **ईशावास्यमिदं सर्वम्** इस प्रकार ब्रह्मविद्याको आरम्भ करके उसी प्रकरणमें **कुर्वन्नेवेह कर्माणि** यह द्वितीय मन्त्र प्रवृत्त हुआ है। 'मुझे इसी शरीरसे साक्षात्कार हो जाय, अन्य शरीर ग्रहण न करना पड़े' ऐसी इच्छा ब्रह्मवेत्ता को भी होती है। इसी अभिप्रायसे जिजीविषेत् कहा गया है। अत: द्वितीय मन्त्र भी ज्ञानीसे ही सम्बन्ध रखता है।

न कर्म लिप्यते नरे इस अंशसे भी **कुर्वन्नेवेह** यह मन्त्र ज्ञानीसे ही सम्बन्ध रखनेवाला सिद्ध होता है, अज्ञानी बुभुक्षुसे नहीं क्योंकि ज्ञानी ही कर्मोंसे लिपायमान नहीं होता अत: उसके विषयमें ही **न कर्म लिप्यते** नरे यह अंश संगत होता है। अज्ञानी बुभुक्षु कर्मोंसे लिपायमान होता ही है अत: उसके विषयमें उक्त अंश संगत नहीं होता है। इस मन्त्रको अविद्वद्विषयक मानने पर **न कर्म लिप्यते नरे** इस अंशसे विरोध होता है अत: इस श्रुतिको भी विद्वद्विषयक मानना ही उचित है।

श्रीशंकराचार्य **स्तुतयेऽनुमतिर्वा**(ब्र.सू. 3.4.14) इस सूत्रके भाष्यमें सूत्रकारके अभिप्रायानुसार **कुर्वन्नेवेह** इस मन्त्रको विद्वद्विषयक कहते हैं और उपनिषद्भाष्यमें अविद्वद्विषयक कहते हैं। इस प्रकार उनके वचनोंमें स्पष्टरूपसे विरोध है।

जो ब्रह्मज्ञानसे रहित तथा एषणासे युक्त है, इस कारण प्रथम मन्त्रसे कही गयी ब्रह्मविद्या तथा द्वितीय मन्त्रसे कहे गये कर्मके अनुष्ठानसे रहित है, आत्मस्वरूप तथा परमात्मस्वरूपको विपरीत जाननेवाले तथा शास्त्रीय विधिका त्याग करके कर्म करनेवाले वे आत्मघाती नरकगामी होते हैं। ब्रह्मविद्यामें शीघ्र प्रवृत्तिके लिए इस विषयका उपदेश किया जाता है–

तृतीयो मन्त्रः

असुर्या नाम ते लोका अन्धेन तमसावृताः।
तांस्ते प्रेत्याभिगच्छन्ति ये के चाऽऽत्महनो जनाः॥ 3॥

अर्थ

असुर्या- आसुरी स्वभाववालोंको प्राप्त होनेवाले **ते**- वे **नाम**[1]- प्रसिद्ध **लोकाः**- लोक **अन्धेन**[2] **तमसा**- प्रगाढ़ अन्धकारसे **आवृताः**- व्याप्त हैं **च**- और **ये के**- जो कोई **आत्महनः**- आत्माका हनन करनेवाले **जनाः**- प्राणी हैं। **ते**- वे **प्रेत्य**- मरकर **तान्**- उन लोकोंको **अभिगच्छन्ति**- निरन्तर प्राप्त करते हैं।

व्याख्या

आत्मघाती की अधोगति

श्रीमद्भगवद्गीताके 16वें अध्यायमें दैवी और आसुरी संपद्का विस्तारसे निरूपण हुआ है। दैवी स्वभाववाले मनुष्यके पास भगवान् की आज्ञाके

---

1. नाम इति प्रसिद्धौ(वे.भा.)
2. अन्धयतीत्यन्धं तेन अतिगाढेन(रं.)

अनुसार आचरणरूप दैवी संपद् तथा आसुरी स्वभाववाले मनुष्यके पास भगवदाज्ञाका उल्लंघनरूप आसुरी संपदा होती है। दैवी संपद् मोक्षके लिए और आसुरी संपद् बन्धनके लिए मानी जाती है–**दैवीसंपद् विमोक्षाय निबन्धायासुरी मता।**(गी. 16.5)अपौरुषेय वेद और तदनुरूप स्मृति आदि शास्त्र ईश्वरीय संविधान हैं। आसुरी स्वभाववाला मनुष्य उनका उल्लंघन करके निषिद्ध कर्मका आचरण करता है, जिसके कारण उसे अतिभीषण रौरव आदि नरकोंकी प्राप्ति होती है। वे लोक अतिगहन अन्धकारसे व्याप्त रहते हैं, उनमें प्रकाश रहता ही नहीं और वे सुखरहित लोक शास्त्र में प्रसिद्ध हैं। प्रत्यगात्मा(जीवात्मा)के ज्ञानसे रहित और परमात्मा के ज्ञान से रहित मनुष्य मरकर उन लोकोंको प्राप्त करते हैं–**अनन्दा नाम ते लोका अन्धेन तमसाऽऽवृताः। ताँस्ते प्रेत्याभिगच्छन्ति, अविद्वांसोऽबुधो जनाः॥** (बृ.उ. 4.4.11) जो प्रसिद्ध सुखरहित लोक हैं। जिनका दूध पी लिया गया है, जिन्होंने घासको खा लिया है, जलको पी लिया है, ऐसी प्रजनन सामर्थ्यसे रहित वृद्ध गायोंका दान करनेवाला यजमान उन लोकोंको जाता है– **पीतोदका जग्धतृणा दुग्धदोहा निरिन्द्रियाः। अनन्दा नाम ते लोकास्तान् स गच्छति ता ददत्**(क.उ. 1.1.3) इस प्रकार बृहदारण्यकमें आत्मज्ञानरहित और कठोपनिषत्में शास्त्रीय विधानसे विरुद्ध कर्मानुष्ठान करनेवालोंको सुखरहित लोककी प्राप्ति कही गयी है। इसे ही ईशावास्यमन्त्र 'असुर्य' शब्दसे कहता है।

ईशावास्यके प्रस्तुत तृतीय मन्त्रमें आत्मस्वरूप और परमात्मस्वरूपके यथार्थ ज्ञानसे विपरीत ज्ञान रखनेवाले आत्मघाती कहे जाते हैं। यदि ब्रह्मको नहीं जानता है तो वह असत् अर्थात् अधोगामी ही हो जाता है–**असन्नेव स भवति, असद् ब्रह्मेति वेद चेत्**[1]।(तै.उ. 2.6.2) इसी प्रकार ज्ञाननिष्ठाको प्राप्त न करनेपर महान् अनर्थ की प्राप्तिको सामवेदीय तवलकारोपनिषत् भी कहती है। यदि इसी जन्ममें ब्रह्मको जान लिया तो इसके पश्चात् अविनाशी फल प्राप्त होता है। यदि इसी जन्ममें ब्रह्मका ज्ञान नहीं हुआ तो महान् अनर्थकी प्राप्ति होती है–**इह चेदवेदीथ सत्यमस्ति, न चेदिहावेदीन्महती विनष्टिः**(के.उ. 2.5)। भगवान् श्रीकृष्ण कहते हैं कि

---

1. ब्रह्म वेद इति एतद् असच्चेत् इति अन्वयः, ब्रह्म न जानाति चेद् इत्यर्थः (भा.प्र.1.1.1)।

सम्पूर्ण शुभ फलोंका मूल मनुष्यशरीर अत्यन्त दुर्लभ होनेपर भी मेरी कृपासे सुलभ हो गया है, यह संसार-सागरसे पार जानेके लिए नौका है, सर्व समर्थ गुरुदेव इस के संचालक हैं, यह अनुकूल वायुके समान मेरे द्वारा लक्ष्यकी ओर प्रेरित होती है। इसे प्राप्त करके भी जो मनुष्य संसारसागरसे पार नहीं होता है, वह आत्मघाती है–**नृदेहमाद्यं सुलभं सुदुर्लभं प्लवं सुकल्पं गुरुकर्णधारम्। मयानुकूलेन नभस्वतेरितं पुमान् भवाब्धिं न तरेत् स आत्महा॥**(भा. 11.20.17) यहाँ पर आत्माकी अधोगति करने वालेको आत्मघाती कहा गया है। **जो न तरै भवसागर नरसमाज अस पाइ। सो कृत निंदक मंदमति आत्माहन गति जाइ।** (रा.च.मा. 7.44) इस प्रकार भगवान् श्रीरामचन्द्रके वचनानुसार भवसागरसे पार न जानेवाला मनुष्य आत्मघाती है। जो ब्रह्मविद्या और उसके साधन कर्मके अनुष्ठानमें प्रवृत्त होते हैं, वे संसारचक्रसे मुक्त हो जाते हैं और जो इससे विपरीत होते हैं, वे काम्यकर्मका आचरण करनेवाले कदाचित् निषिद्ध कर्मानुष्ठानसे प्रबल दुष्कृतके कारण अतिदु:खदायी नरकको प्राप्त करते ही हैं, अत: शीघ्र ही काम्य और निषिद्ध कर्मोंका परित्याग करके श्रोत्रिय-ब्रह्मनिष्ठ आचार्यसे ज्ञानार्जन और तदनुसार आचरण करके संसारचक्रसे अपना उद्धार कर लेना चाहिए। असुर्य लोकोंकी प्राप्तिको मरणके अनन्तर प्राप्त होनेवाले सभी प्रकारके अनिष्ट फलोंका उपलक्षण समझना चाहिए।

परमात्माका स्वाभाविक परतन्त्र (दास) अपने आत्मस्वरूपको स्वतन्त्र (स्वाधीन) समझता है, आत्माका अपहरण करनेवाले उस चोर ने कौन सा पाप नहीं किया?– **योऽन्यथा सन्तमात्मानमन्यथा प्रतिपद्यते, किं तेन न कृतं पापं चौरेणात्मापहारिणा।**(म.भा.उ. 42.37) यहाँ पर आत्माके यथार्थज्ञानसे विपरीत ज्ञानवालेको आत्मापहारी और सबसे बड़ा पापी कहा गया है। दूसरेके धनको अपना मानना चोरी है, अपना प्रत्यगात्मस्वरूप परब्रह्मके अधीन है, उनका धन है। उसे अपना अर्थात् स्वाधीन मानना भगवान्के धनकी चोरी करना है, अपहरण करना है। यही सभी अनर्थोंका मूल है। जो अपनेको भगवान्का शेष समझता है, वह शास्त्रकी आज्ञानुसार उनके साक्षात्कारके साधनमें लगा रहता है और जो अपनेको भगवान्का शेष नहीं समझता, वह कभी न कभी निषिद्धाचरण करके अवश्य

नरकगामी बनता है। जिस प्रकार देह, इन्द्रिय, मन, प्राण और बुद्धिको आत्मा समझना विपरीत ज्ञान है, उसी प्रकार परब्रह्मके अधीन अपने आत्मस्वरूपको स्वतन्त्र समझना भी विपरीत ज्ञान है। इसी प्रकार वेदवेद्य, सकलकल्याणगुणगणविशिष्ट, सर्वनियन्ता परमात्माको निर्गुण-निर्विशेष समझना भी विपरीतज्ञान है। हे कुलनन्दन! अविद्याके स्वरूपको सुनो, जो आत्मा नहीं है, ऐसे देहादिको आत्मा समझना अविद्या(विपरीतज्ञान) है तथा जो वस्तु अपनी नहीं है, उसे अपनी समझना अविद्या है– **तच्छ्रूयतामविद्यायास्स्वरूपं कुलनन्दन। अनात्मन्यात्मबुद्धिर्यास्वे स्वमिति या मतिः।**(वि.पु. 6.7.10-11) परब्रह्मको छोड़कर अपना कोई नहीं है, उससे अतिरिक्त किसी भी संसारी वस्तुको अपना समझ लेना भी अविद्या है। **लोक्यन्ते-अनुभूयन्ते इति लोकाः कर्मफलरूपा योनयः**(सु.) इस व्युत्पत्तिके अनुसार कर्मोंकी फलरूप योनियाँ लोक शब्दसे कही जाती हैं। इस प्रकार पापकर्मोंकी फलरूप निम्न योनियाँ असुर्य लोक शब्दका अर्थ होती हैं। मनुष्य शरीरको प्राप्त करके भगवदनुग्रह प्राप्त कोई महापुरुष ही परमात्मा को जानता है। कूकर, सूकर आदि निम्न योनियाँ तो अत्यधिक अज्ञानसे व्याप्त होती हैं। आत्मघाती मनुष्य मरकर इन्हीं निम्न योनियोंको प्राप्त करते रहते हैं। मैं द्वेष रखनेवाले, क्रूर एवं अशुभ नराधमोंको आसुरी योनियोंमें निरन्तर डालता हूँ। हे कौन्तेय! आसुरी योनिको प्राप्त किये हुए वे मुझे न जानकर पहलेसे भी अधिक निम्नगति को प्राप्त होते हैं– **तानहं द्विषतः क्रूरान् संसारेषु नराधमान्। क्षिपाम्यजस्रमशुभानासुरीष्वेवयोनिषु॥ आसुरीं योनिमापन्ना मूढा जन्मनि जन्मनि। मामप्राप्यैव कौन्तेय ततो यान्त्यधमां गतिम्॥**(गी. 16.19-20) इस प्रकार गीतामें आसुरी स्वभाववालोंको निम्न योनिकी प्राप्ति वर्णित है। आत्मघातका हेतु आसुरी स्वभाव है और इस स्वभावके मूलका गीता इस प्रकार वर्णन करती है कि आत्मा का पतन करने वाले काम, क्रोध और लोभ ये तीन नरकके द्वार हैं, इसलिए इन तीनोंका त्याग कर देना चाहिए– **त्रिविधं नरकस्येदं द्वारं नाशनमात्मनः। कामः क्रोधस्तथा लोभस्तस्मादेतत् त्रयं त्यजेत्॥** (गी. 16.21)

ऊपर मुमुक्षुकी ब्रह्मविद्यामें शीघ्र प्रवृत्तिके लिए अविद्यावाले आत्मघाती मनुष्यकी अधोगति कही गयी। अब सर्वव्यापकरूपसे प्रस्तुत परब्रह्मकी अनन्त, विचित्र शक्तियोंका उपदेश किया जाता है–

चतुर्थो मन्त्रः

अनेजदेकं मनसो जवीयो नैनद् देवा आप्नुवन् पूर्वमर्षत्।
तद्धावतोऽन्यानत्येति तिष्ठत्तस्मिन्नपो मातरिश्वा दधाति॥ 4॥

अर्थ

अनेजत्–अचल **एकम्**–अपने समान तथा अपनेसे अधिक द्वितीय वस्तुसे रहित **मनसः**– मनसे **जवीयः**–अधिक वेगवाले **पूर्वम्**–पहलेसे सबको **अर्षत्**–प्राप्त **एनत्**–परब्रह्मको **देवाः**– इन्द्रादि देवता **न आप्नुवन्**–प्राप्त नहीं कर सके। **तत्**–परब्रह्म **तिष्ठत्**–स्थिर रहते हुए **धावतः**–दौड़नेवाले **अन्यान्**–गरुड़ आदिका **अत्येति**–अतिक्रमण कर जाता है। **तस्मिन्**–उस परब्रह्ममें स्थित **मातरिश्वा**–वायु **अपः**–जलको **दधाति**–धारण करती है।

व्याख्या

ब्रह्मकी विविध विचित्र शक्तियाँ –एज़ कम्पने धातुसे 'अनेजत्' शब्द निष्पन्न होता है। इसका अर्थ है–अकम्पमान अर्थात् अचल। जो वस्तु एक स्थानमें रहती है, दूसरे स्थानमें नहीं। वह एक स्थानसे दूसरे स्थानमें जाती है। भगवान् ऐसे नहीं हैं। वे सर्वव्यापक अर्थात् सबमें रहते हैं। गन्तव्य स्थान अव्यापक(परिच्छिन्न) वस्तुका होता है, विभु भगवान्का गन्तव्य स्थान हो ही नहीं सकता है, इसलिए वे अचल हैं। यहाँ एक का अर्थ है–जो अपने अधीन न हो, ऐसी अपने समान तथा अपने से अधिक द्वितीय वस्तुके अभाववाला **स्वानधीनस्वसमानाधिकद्वितीयरहितम्** (ई.प्र.)। परब्रह्मसे अधिक कोई नहीं है, इसलिए वे अपनेसे अधिक द्वितीय वस्तु से रहित हैं। वस्तुत्व धर्मसे चेतन और अचेतन दोनोंकी परमात्मासे समानता है। चेतनत्व

धर्मसे सभी जीवोंकी परमात्मासे समानता है। नित्य निर्दोषत्व धर्म से नित्यसूरियों[1] की परमात्मासे परम समता होती है। मुक्तात्मा प्रकृतिके सम्बन्धसे रहित होकर परब्रह्मके साथ परम समताको प्राप्त करता है–**निरञ्जनः परमं साम्यमुपैति** (मु.उ. 3.1.3)। इस प्रकार मुण्डकश्रुति स्वरूपाविर्भाव होनेपर ज्ञान, आनन्द और सत्यसंकल्पत्वादि धर्मोंसे मुक्तात्मा और परमात्माकी परम समानता का वर्णन करती है। इसलिए एक शब्द के अर्थमें स्वानधीन जोड़ा गया है। ऊपर कहे गये परमात्माके समान सभी उनके अधीन ही हैं। जो परमात्माके अधीन न हो, ऐसी स्वसमान द्वितीय वस्तु है ही नहीं, इसलिए परमात्मा उससे रहित है। इस प्रकार एक शब्दकी व्याख्या निष्पन्न होती है। लोकमें मनका वेग प्रसिद्ध है, यह परमात्मा तो उससे भी अधिक वेगवाला है।

शंका–चलनेवाली वस्तु ही वेगसे युक्त होती है। इस मन्त्रमें पहले उसे अनेजत् अर्थात् अचल कहा गया है। इस अचल परमात्माका वेगयुक्त होना कैसे संभव है?

समाधान–व्यापक परमात्माके द्वारा सब कुछ सदा व्याप्त रहता है, इसलिए परमात्मा अचल ही है। मन जिन-जिन स्थानोंपर जाता है, उन उन स्थानों पर परमात्मा पहलेसे ही विद्यमान रहता है। इसलिए उसे उपचारसे वेगवाला कहा जाता है। इसी प्रकार आगे भी जानना चाहिए। ब्रह्म विभु है, इसलिए सबको प्राप्त है। वह सबका अन्तरात्मा है इसलिए भी सबको प्राप्त है। ऐसा होने पर भी इन्द्रादि देवता उसे प्राप्त नहीं कर सके।

शंका–प्राप्त ब्रह्मको भी देवता प्राप्त नहीं कर सके– **नैनद् देवा आप्नुवन् पूर्वमर्षत्**। इस वाक्यमें विरोध प्रतीत होता है क्योंकि प्राप्त तो

---

1. जो जीवात्माएं कभी भी संसारबन्धनमें नहीं आती हैं, वे नित्य या नित्यसूरि कहलाती हैं। इनका **यत्र पूर्वे साध्याः सन्ति देवाः**(ऋ.सं.8.4.19) और **तद्विष्णोः परमं पदं सदा पश्यन्ति सूरयः**(तै.सं. 1.3.6.2)(सु.उ. 6)इत्यादि वचन प्रतिपादन करते हैं। मुक्तपुरुष मोक्षप्राप्तिसे पहले कर्माख्य अविद्याके कारण दोषवाले होते हैं, नित्य सदा दोषरहित ही रहते हैं।

प्राप्त ही है, पुनः उसे प्राप्त करनेका कोई प्रसङ्ग ही नहीं, अतः उसे देवता प्राप्त नहीं कर सके, ऐसा क्यों कहा?

समाधान– उक्त शंका उचित नहीं है क्योंकि प्राप्तकी प्राप्ति उसका ज्ञान ही है, उससे अतिरिक्त नहीं। लोकमें कभी-कभी पूर्वसे प्राप्त वस्तुको भी मनुष्य नहीं जानता है। देवता प्राप्त नहीं कर सके। इसका अर्थ है कि देवता नहीं जान सके। विभु और अन्तरात्मा होनेसे नित्य प्राप्त ब्रह्मको भी कर्मरूप अविद्यासे प्रतिबद्ध ज्ञानवाले क्षेत्रज्ञ जीव सद्गुरुके उपदेशसे विद्याप्राप्तिके पूर्व अपनी बुद्धिसे नहीं जानते हैं। ऐसा उक्त वाक्यका अर्थ है, इसलिए कोई विरोध नहीं है। जिस प्रकार खेतके अन्दर छिपी सुवर्णनिधिको न जानने वाले मानव प्रतिदिन खेतके ऊपर संचरण करनेपर भी सुवर्णनिधि को नहीं जानते हैं, इसी प्रकार यह सभी प्रजा सुषुप्तिकालमें हृदयस्थ अन्तरात्मा ब्रह्ममें विश्रामके लिए जानेपर भी उसे नहीं जानती है क्योंकि वह प्रतिबन्धक कर्मोंसे आच्छादित है- **तद् यथा हिरण्यनिधिं निहितमक्षेत्रज्ञा उपर्युपरि संचरन्तो न विन्देयुः, एवमेवेमाः सर्वाः प्रजा अहरहर्गच्छन्त्य एतं ब्रह्मलोकं[1] न विन्दन्ति, अनृतेन हि प्रत्यूढाः**(छां.उ. 8.3.2)। जो आत्मामें रहते हुए आत्माके अन्दर है, जिसे आत्मा नहीं जानती है- **य आत्मनि तिष्ठन् आत्मनोऽन्तरो यमात्मा न वेद**(बृ.उ.मा. पा. 3.7.26)। जो ब्रह्म पृथिवीमें रहते हुए- **यः पृथिव्यां तिष्ठन्**(बृ.उ. 3. 7.7)जो ब्रह्म आत्मामें रहते हुए- **य आत्मनि तिष्ठन्**(बृ.उ.मा.पा. 3.7. 26) जो ब्रह्म सर्वभूतोंमें रहते हुए- **यस्सर्वेषु भूतेषु तिष्ठन्**(बृ.उ. 3.7. 19) इस प्रकार परब्रह्मकी सर्वत्र स्थिति कही गयी है। वह ब्रह्म स्थिर रहते हुए ही तेज दौड़नेवाले गरुड़ादिका अतिक्रमण कर जाता है अर्थात् गरुड़ादि जहाँ जाते हैं, ब्रह्म उससे भी पर विद्यमान रहता है। अब और भी आश्चर्य कहा जाता है। श्रुतिमें आया अप् शब्द उपलक्षण है। परमात्मामें स्थित वायु जलको मेघरूपसे परिणत करके धारण करती है, जिससे वर्षा होती है। धारण करने के लिए काठिन्य गुण अपेक्षित होता है। इसके होनेसे पृथिवी पदार्थोंको धारण करती है, इस गुणके वायुमें न होनेपर भी वह मेघ, ग्रह,

---

1. ब्रह्मैव लोकः ब्रह्मलोकः तम्।

नक्षत्र, तारक आदिको धारण करती है। सर्वेश्वर परमात्माके द्वारा धारणकी गयी वायु उनकी शक्तिसे ही जलादिको धारण करती है। परमात्माका धारकत्व शास्त्रोंमें प्रसिद्ध है। परमात्मा इन लोकोंके अमिश्रणके लिए इनको धारण करनेवाले सेतु हैं–**एष सेतुर्विधरण एषां लोकानामसंभेदाय** (बृ.उ. 4.4.22)। हे गार्गि! इस अक्षर ब्रह्मके ही नियन्त्रणमें सूर्य और चन्द्र अपना कार्य करते हुए स्थिर रहते हैं–**एतस्य वा अक्षरस्य प्रशासने गार्गि सूर्याचन्द्रमसौ विधृतौ तिष्ठतः**(बृ.उ. 3.8.8)। जो अव्यय ईश्वर अचेतन प्रकृति, बद्ध जीव और मुक्त इन तीनों में प्रवेश करके उन्हें धारण करता है–**यो लोकत्रयमाविश्य बिभर्त्यव्यय ईश्वरः**(गी. 15.17)। स्वर्ग, चन्द्र, सूर्य और नक्षत्रोंके सहित आकाश, दिशाएं, पृथ्वी और महासागर ये सब महात्मा वासुदेवकी शक्तिसे धारण किये गये हैं– **द्यौः सचन्द्रार्कनक्षत्रा खं दिशो भूर्महोदधिः। वासुदेवस्य वीर्येण विधृतानि महात्मनः॥** (वि. स.ना. 134)

तत्त्वनिर्धारणके लिए पुनः पुनः उपदेश

पूर्वमन्त्रमें वर्णित भगवान्की विविध विचित्र शक्तियोंमें आदर होनेके कारण पञ्चम मन्त्रमें उनका प्रकारान्तरसे वर्णन किया जायेगा। तत्त्वके निर्धारणके लिए पुनः पुनः श्रवण और मनन करना चाहिए। यह पुनः प्रकारान्तरसे वर्णन करनेका अभिप्राय है। वेद कहते हैं कि कर्मसे नित्य परमात्मा प्राप्त नहीं हो सकता है। इस प्रकार कर्मसे प्राप्त होनेवाले लोकोंका विचार करके जो मुमुक्षु वैराग्यको प्राप्त करे, वह ब्रह्मको जाननेके लिए हाथमें समिधा लेकर श्रोत्रिय, ब्रह्मनिष्ठ गुरुके ही समीप जाए। ब्रह्मज्ञ आचार्य जिसके द्वारा संशय, विपर्यय से रहित होकर सत्य अक्षर ब्रह्मको जानता है, उस ब्रह्मविद्याका शमसे युक्त तथा सम्यक् प्रशान्त चित्तवाले समीपमें आये शिष्यको पुनः पुनः उपदेश करे–**परीक्ष्य लोकान् कर्मचितान् ब्राह्मणो निर्वेदमायान्नास्त्यकृतः कृतेन। तद् विज्ञानार्थं स गुरुमेवाभिगच्छेत् समित्पाणिः श्रोत्रियं ब्रह्मनिष्ठम्॥ तस्मै स विद्वानुपसन्नाय सम्यक्प्रशान्तचित्ताय शमान्विताय। येनाक्षरं पुरुषं वेद**

सत्यं प्रोवाच तां तत्त्वतो ब्रह्मविद्याम्(मु.उ. 1.2.12-13)। श्रीकृष्ण के द्वारा पुनः अनुगीताका[1] उपदेश किया गया, ऐसा आचार्य कहते हैं।

पञ्चमो मन्त्रः

तदेजति तदु[2] नैजति तद्दूरे तद्वन्तिके।
तदन्तरस्य सर्वस्य तदु सर्वस्यास्य बाह्यतः॥ 5॥

अर्थ

तद्- ब्रह्म **एजति**-चलता है। **तद्**-वह ब्रह्म **उ**-ही **न एजति**- नहीं चलता है। **तद्**-वह ब्रह्म **दूरे**-दूरमें है। **तदु**-वह ब्रह्म ही **अन्तिके**-समीपमें है। **तद्**- वह ब्रह्म **अस्य सर्वस्य**-इस सम्पूर्ण जगत्के **अन्तः**- अन्दर है। **तदु**- वह ही **अस्य सर्वस्य**- इस सम्पूर्ण जगत्के **बाह्यतः**- बाहर है।

व्याख्या

परमात्मा दिव्यमङ्गलविग्रहविशिष्ट होकर आश्रित भक्तोंको आनन्द प्रदान करने के लिए चलते हैं। वे व्यापक होनेसे स्वरूपतः नहीं चलते हैं। एक ही परमात्मामें परस्पर विरुद्ध दो धर्म कैसे संभव हैं? इस शंकाका यहाँ कोई अवकाश नहीं है क्योंकि परमात्माका स्वरूपतः न चलना और विग्रहविशिष्टरूपसे चलना संभव होता है इसलिए श्रीराम अयोध्यासे चित्रकूट जाते हैं और श्रीकृष्ण गोचारणके लिए गोकुलसे गोवर्धन जाते हैं

---

1. महाभारत युद्धके पश्चात् युधिष्ठिरके द्वारा राज्यका पालन करनेपर कदाचित् अर्जुनने श्रीकृष्णसे कहा- हे कृष्ण! युद्धभूमिमें मुझे युद्धोन्मुख करनेके लिए आपने जो विपुल उपदेश किया था, उसे व्याकुल चित्तके कारण मैंने एकाग्रतासे नहीं सुना, अतः पुनः उपदेश कीजिए। तब श्रीकृष्णने विपुल गीताके अर्थका संक्षेपसे उपदेश किया। इस उपदेशको महाभारतमें अनुगीता कहा गया है।
2. तदु- तदेव, एवकारोऽवधारणार्थः(रं.)। तदु नैजति इति स्थाने 'तन्नैजति' इति पाठान्तरः।

इत्यादि वचन प्रयुक्त होते हैं। 'एजते' का कम्पन अर्थ करनेपर 'वात्सल्यमयी यशोदा माताके डांटनेपर भगवान् काँपते हैं, दुष्ट राक्षसोंके साथ भयंकर युद्धमें भी नहीं काँपते हैं।' यह भी अर्थ होता है। इससे भगवान्की आश्रितजनोंपर परम करुणा और अनन्याधीनत्व गुण सिद्ध होते हैं। तद् पदसे विग्रहविशिष्ट परमात्माको न लेनेपर सर्वव्यापक परमात्मा चतुर्थमन्त्रमें वर्णित रीतिसे चलता जैसा है। वह वस्तुतः नही चलता है। परमात्मा सर्वत्र है इसलिए वह दूर भी है, और समीप भी अथवा परमात्मा आसुरी प्रकृतिवाले मूढ़ोंको ज्ञात न होनेके कारण उनसे दूर है और दैवी प्रकृतिवाले भक्तोंको ज्ञात होनेके कारण उनके समीप है। शौनकने कहा है–गोविन्दसे विमुख और विषयमें आसक्त चित्तवाले मनुष्यों केलिए वह परब्रह्म अत्यन्त दूर स्थित रहता है और तन्मयतासे गोविन्दमें चित्त लगानेवाले, विषयका त्याग करनेवाले मनुष्योंके समीप स्थित है, ऐसा जानना चाहिए–**पराङ्मुखानां गोविन्दे विषयासक्तचेतसाम्। तेषां तत्परमं ब्रह्म दूराद् दूरतरे स्थितम्॥ तन्मयत्वेन गोविन्दे ये नराः न्यस्तचेतसः। विषयत्यागिनस्तेषां विज्ञेयं च तदन्तिके**(वि.ध.पु.)। इससे भक्तोंके प्रति भगवान्के सौलभ्य और अभक्तोंके प्रति दौर्लभ्य गुणका प्रतिपादन किया जाता है। सबमें व्याप्त होकर रहनेवाला परब्रह्म प्रमाणसे सिद्ध चेतनाचेतन सभी वस्तुओंके अन्दर रहता है और सभीके बाहर भी रहता है। लोकमें जो परिमित पदार्थ जिस कालमें जिस वस्तुके अन्दर रहता है, वही पदार्थ उसी कालमें उस वस्तुके बाहर नहीं रह सकता है किन्तु यह परमात्मा युगपद् बाहर और भीतर सभी स्थानोंमें रहता है। यह उसकी विशेषता है। जगत्में जो वस्तु दिखाई देती है या सुनाई देती है, उस सबको अन्दर और बाहर से व्याप्त करके नारायण स्थित हैं–**यच्च किञ्चिज्जगत्यस्मिन् दृश्यते श्रूयतेऽपि वा। अन्तर्बहिश्च तत्सर्वं व्याप्य नारायणः स्थितः**(तै.ना.उ. 94)। परमात्मा सूक्ष्मसे भी सूक्ष्म होनेसे अणु प्रत्यगात्मामें भी रहते हैं। सिद्धान्तमें काल और धर्मभूत ज्ञानको भी विभु माना जाता है। सभी अविभु द्रव्योंकी अपेक्षा **तदु सर्वस्यास्य बाह्यतः** यह कथन संभव होता है। परमात्मा के सम्बन्धसे रहित एक भी प्रदेश नहीं है। इसका बोध करानेमें श्रुतिका तात्पर्य है।

*ऊपर प्रथम मन्त्रमें **ईशावास्यमिदं सर्वम्** के द्वारा जगत्‌का ब्रह्मात्मकत्व कहा गया और पञ्चममें **तदन्तरस्य सर्वस्य** के द्वारा सभीमें उसकी व्याप्ति कही गयी। सभीके अन्दर प्रविष्ट होकर शासन करनेवालेको सर्वात्मा कहा जाता है- **अन्तःप्रविष्टः शास्ता जनानां सर्वात्मा**(तै.आ. 3.11.3) यह श्रुति स्वयं ही सर्वात्मा पद की व्याख्या **अन्तःप्रविष्टः शास्ता जनानाम्** करती है। आकाश सबके अन्दर प्रविष्ट है, किन्तु वह शासक नहीं है। राजा शासक है किन्तु वह किसीके भी अन्दर प्रविष्ट नहीं होता है। व्यापक सर्वात्मा ब्रह्म ही सबके अन्दर प्रवेश करके शासन करता है, अब उसके द्वारा नियाम्य सम्पूर्ण जगत्‌का ब्रह्मात्मकत्वेन अनुसंधान और उसका फल कहा जाता है–*

षष्ठो मन्त्रः

यस्तु सर्वाणि भूतान्यात्मन्येवानुपश्यति।
सर्वभूतेषु चात्मानं ततो न विजुगुप्सते॥ 6॥

अर्थ

यः–जो ब्रह्मवेत्ता **तु**–तो **सर्वाणि भूतानि**–सभी प्राणियोंको **आत्मनि**–परमात्मामें **एव**–ही **अनुपश्यति**[1] देखता है। **च**–और **आत्मानम्**- परमात्माको **सर्वभूतेषु**–सभी प्राणियों में देखता है। वह **ततः**[2]- उन सबकी **न विजुगुप्सते**-निन्दा नहीं करता है।

व्याख्या

जगत्‌का ब्रह्मात्मकत्वेन अनुसंधान

ब्रह्मोपासककी महिमाको बतानेके लिए श्रुतिमें तु शब्दका प्रयोग है।

---

1. अनुस्यूतं विशदं निध्यायति(वे.भा.), अनुस्यूतं पश्यति-निदिध्यासति (ई.प्र.) विशदतमध्यानस्यैव दर्शनसमानाकारत्त्वात् अनुपश्यतीति उक्तम्।
2. ततः - तेषु सप्तम्यर्थे तसि. (ई.प्र.), तद् विषयेषु इत्यर्थः।

हजारों मनुष्योंमें कोई एक फलप्राप्तिपर्यन्त यत्न करता है। फलप्राप्तिपर्यन्त यत्न करनेवाले हजारोंमें कोई एक मुझे तत्त्वतः जानता है—**मनुष्याणां सहस्रेषु कश्चिद् यतति सिद्धये। यततामपि सिद्धानां कश्चिन्मां वेत्ति तत्त्वतः॥** (गी. 7.3) इस प्रकार ज्ञानीकी बहुत महिमा है, ऐसा ज्ञानी दुर्लभ है। ब्रह्मोपासक अनुसंधान करता है कि ब्रह्मासे लेकर स्थावरपर्यन्त सभी भूत परमात्मामें ही स्थित हैं। शरीरी परमात्माके अधीन उनके शरीरभूत इन सबकी स्थिति है। वह ही सबको धारण करता है। लोकमें भूतोंके आधार तो पृथ्वी आदि प्रसिद्ध हैं क्योंकि इनके द्वारा भूतोंको धारण किया जाता है किन्तु पृथ्वी आदि को भी धारण करनेवाले सर्वव्यापक परमात्मा हैं। अतः पृथ्वी आदिके द्वारा उनकी परमात्मामें ही स्थिति है। परमात्मामें स्थित होकर ही वायु जलको धारण करती है—**तस्मिन्नपो मातरिश्वा दधाति**(ई.उ. 4)। ईशावास्यके इस चतुर्थ मन्त्रमें प्रधान आधार परमात्मा ही कहा गया है। सभी भूतोंमें स्थित परमात्माका अनुसंधान करता है—**सर्वभूतेषु चात्मानम्** इस प्रकार अनुसंधेय सभी भूतोंमें परमात्माकी व्याप्तिमात्र कही गयी है, वे भूत परमात्माके आधार नहीं हो सकते हैं, परमात्मा ही सबके आधार हैं। जैसे शरीर में विद्यमान जीवात्मा शरीरका धारक होता है, शरीर जीवात्माका धारक नहीं होता है। वैसे ही चेतनाचेतन सभी भूतोंमें विद्यमान परमात्मा ही सबके धारक होते हैं, सभी भूत परमात्माके धारक नहीं होते। परमात्मा के अधीन सभी भूतों की स्थिति है, भूतों के अधीन परमात्माकी स्थिति नहीं है। यह विचित्रता भगवद्गीतामें भी कही गयी है। धारण करनेके लिए और नियमन करनेके लिए चेतना-चेतनात्मक सब जगत् मुझ अन्तर्यामीसे व्याप्त है, इसलिए सभी प्राणी मुझमें स्थित हैं, मैं उनमें स्थित नहीं हूँ—**मया ततमिदं सर्वं जगदव्यक्तमूर्तिना। मत्स्थानि सर्वभूतानि न चाहं तेष्ववस्थितः॥** (गी. 9.4) अर्थात् मेरी स्थिति उनके अधीन नहीं है। व्यापक होनेसे भगवान् सभी भूतोंमें स्थित हैं किन्तु भगवान्की स्थिति में भूतोंसे कोई उपकार नहीं होता है। इसी अभिप्रायसे आगे भी कहा है कि मैं भूतोंका भरण करनेवाला हूँ, परन्तु भूतोंमें स्थित नहीं हूँ—**भूतभृन्न च भूतस्थः**(गी. 9.5)।

अनुसन्धान का फल

जगत्का ब्रह्मात्मकत्वेन अनुसंधान करनेवाला ब्रह्मवेत्ता ब्रह्मा से लेकर स्थावर पर्यन्त भूतोंमें किसीकी भी निन्दा नहीं करता है। निन्दाका कारण द्वेष होता है। ब्रह्मात्मक जगत्के अनुसंधानसे सभीके प्रति द्वेषभाव निवृत्त हो जाता है, इसलिए अनुसंधाता किसी भी प्राणीकी किसी भी कालमें निन्दा नहीं करता है। जैसे राजा जब एक सेवकसे दूसरे दोषी सेवकको दण्ड दिलाता है। तब दण्डित सेवक दण्डप्रदाता सेवकसे द्वेष नहीं करता है क्योंकि दण्डप्रदाता राजाके अधीन है, वैसे ही ब्रह्मोपासक को जब कोई पीड़ित करता है, तब ब्रह्मोपासक पीड़ाप्रदाता प्राणीसे द्वेष नहीं करता है क्योंकि पीड़ाप्रदाता भगवान्के अधीन है। ब्रह्मवेत्ता ऐसा समझता है कि मेरे अपराधके फल दुःखका भोग कराके मुझे निर्मल बनानेके लिए कृपालु भगवान्से ही प्रेरित होकर यह मेरा अत्यन्त उपकार कर रहा है। इस प्रकार ब्रह्मात्मकत्वका अनुसन्धान करनेसे द्वेष करनेवालेका भी द्वेषभाव समाप्त हो जाता है, इसलिए वह कभी भी किसीकी निन्दा नहीं करता है। जैसे मैं ईश्वरके अधीन हूँ, ऐसे ही पीड़ा देनेवाला भी ईश्वरके अधीन है, उस बेचारेका क्या दोष? द्वेष और निन्दा करना भी बड़ा दोष है, इनके रहते ब्रह्मसाक्षात्कार नहीं हो सकता है। जगत्के ब्रह्मात्मकत्वके अनुसंधानसे ये दोष सहज ही निवृत्त हो जाते हैं। द्वेषके कारण दूसरोंको कष्ट पहुँचानेवाला उत्तरोत्तर अपने संसारकी वृद्धि करता है, ब्रह्मात्मकत्व- अनुसन्धानसे द्वेषका उदय न होने पर मुमुक्षुके लिए अपेक्षित द्वेषाभाव सिद्ध होता है। गीतामें **अद्वेष्टा सर्वभूतानाम्**(गी.12.13) इत्यादि श्लोकोंसे **स मे प्रियः**(गी. 12. 14) इस प्रकार कहा गया 'भगवान्का प्रिय होना' द्वेषाभाव का फल है। द्वेषाभाव तथा मैत्रादि गुणवाले भक्तको भगवान् अपना प्रिय कहते हैं। इस कारण ब्रह्मज्ञ मुमुक्षुके लिए जगत्के ब्रह्मात्मकत्वका अनुसंधान अत्यन्त आवश्यक है।

शांकरमत–श्रीशंकराचार्यने आत्मपदको अनुसन्धाता मुमुक्षुके स्वात्मस्वरूप का बोधक मानकर कहा है–जो परिव्राजक मुमुक्षु अव्यक्तसे लेकर स्थावरपर्यन्त सभी भूतोंको आत्मामें ही देखता है अर्थात् आत्मासे

भिन्न वस्तुओंको नहीं देखता और उन सम्पूर्ण भूतोंमें आत्माको ही देखता है अर्थात् उन भूतोंकी आत्माको अपनी आत्मा समझता है—**यः परिव्राड् मुमुक्षुः सर्वाणि भूतानि अव्यक्तादीनि स्थावरान्तानि आत्मन्येव अनुपश्यति, आत्मव्यतिरिक्तानि न पश्यतीत्यर्थः। सर्वभूतेषु च तेष्वेव चात्मानं तेषामपि भूतानां स्वम् आत्मानम् आत्मत्वेन।** वह उचित नहीं है क्योंकि जैसे 'भूतल एव घटं पश्यति' इस वाक्यसे घट और भूतलका आधार-आधेय भाव स्पष्टरूपसे ज्ञात होता है। भूतल आधार है, घट आधेय है। भूतलमें घटको देखता है और भूतलसे भिन्न आधारमें घटको नहीं देखता है। यही 'भूतल एव घटं पश्यति' इस वाक्यका अर्थ है। भूतलसे भिन्न घटको नहीं देखता है। यह उक्त वाक्यका अर्थ नहीं है क्योंकि आधाराधेयभाव भिन्न वस्तुओंमें ही होता है, अभिन्न में नहीं। वैसे ही **सर्वाणि भूतानि आत्मनि एव पश्यति** का अर्थ है कि परमात्मामें सब भूतोंको देखता है, परमात्मासे भिन्न में भूतोंको नहीं देखता है। किन्तु 'परमात्मासे भिन्न भूतोंको नहीं देखता है।' यह उक्त श्रुतिवाक्य का अर्थ नहीं है क्योंकि सर्वभूत और परमात्माका आधाराधेयभाव श्रुतिसे स्पष्ट ज्ञात होता है। परमात्मा आधार है, सर्वभूत आधेय हैं। यदि कहना चाहें कि सर्वभूत रज्जुसर्पके समान कल्पित हैं और अधिष्ठानसे भिन्न कल्पित अध्यस्त पदार्थ नहीं होता है इसलिए उक्त भाष्य संगत होता है तो यह कथन भी उचित नहीं है क्योंकि जिन पर आचार्योंने भाष्य लिखें हैं। उन उपनिषदोंमें, गीतामें और ब्रह्मसूत्रमें कहीं भी रज्जुसर्पके समान जगत्को कल्पित नहीं कहा है, इसलिए उनमें अधिष्ठान-अध्यस्तभाव भी नहीं कहा है। जगत्का मिथ्यात्व श्रुतिसम्मत नहीं है। इस विषयको विस्तारसे जाननेके लिए 'विशिष्टाद्वैत वेदान्तका विस्तृत विवेचन' नामक ग्रन्थका अध्ययन करना चाहिए। अतः उक्त भाष्य श्रुतिके अनुसार नहीं है। इसी प्रकार ऊपर **सर्वाणि भूतानि** को अव्यक्तसे लेकर स्थावर पर्यन्त जड़पदार्थमात्रका बोधक कहकर आत्मा से भिन्न उन भूतोंको नहीं देखता है, ऐसा जो कहा गया, उससे तो जड़चेतनकी एकतारूप देहात्मबुद्धिका ही प्रतिपादन होता है, ऐसा विपरीत ज्ञान दुःखोंकी वृद्धिका ही कारण होता है। उसे जो घृणा निवृत्तिका कारण कहा गया है, वह भी अनुचित है।

इसी प्रकार **सर्वभूतेषु चात्मानं** यहाँ पर शरीरस्थानीय सभी भूतोंके प्रति स्वात्मस्वरूपके आत्मत्वेन दर्शनकी विवक्षा होनेसे सर्वभूत और आत्माका भेदज्ञान ही सिद्ध होता है, इसलिए पूर्ववाक्यको अभेदज्ञान परक माननेसे परस्पर व्याघात दोष भी होता है। प्रस्तुत मन्त्रमें परमात्माके वाचक आत्मशब्दका मुमुक्षु चेतनका स्वात्मस्वरूपपरक अर्थ करना भी अनुचित है। प्रथम मन्त्रमें 'ईशा' इस प्रकार ईश्वरत्वेन एक आत्माका निर्देश करके उससे भिन्न जगत् उस ईश्वरका शेष है। ऐसा प्रतिपादन करके ईश्वरत्वेन निर्दिष्ट आत्मा प्रशासक है, इसलिए उनके शासनका उल्लंघन करनेपर प्राप्त दण्डके निवारणके लिए उनकी आज्ञाके अधीन ही रहना चाहिए। इस विषयका **तेन त्यक्तेन भुञ्जीथाः, मा गृधः कस्यस्विद् धनम्**(ई.उ. 1) और **कुर्वन्नेवेह कर्माणि**(ई.उ. 2) इन दो मन्त्रोंसे वर्णन करके उनके शासनके अतिक्रमणसे होनेवाले महान् अनर्थके प्रसङ्गका **असुर्या नाम ते लोकाः** इस तृतीय मन्त्रसे वर्णन करके ईट् शब्दसे निर्दिष्ट आत्मा ईश्वरका सकलेतर आत्माओंसे अतिशायि शक्तिमत्व और सर्वभूतान्तरात्मत्वके प्रतिपादन द्वारा नियन्ता होनेसे उसका ईश्वरत्व तथा जगत्के ईश्वरनियाम्यत्वका चतुर्थ और पञ्चम मन्त्रोंके द्वारा प्रतिपादन करके जगत्के ब्रह्मात्मकत्वका अनुसंधान ब्रह्मवेत्ताको आवश्यक है। यह बोध करानेके लिए षष्ठ मन्त्र प्रवृत्त हुआ है। इस प्रकरणमें ब्रह्मवेत्ता मुमुक्षुके स्वात्मस्वरूपमें सर्वभूतान्तरात्मत्वके अनुसंधानके प्रसङ्गका लेश भी नहीं है। ईट् शब्दसे निर्दिष्ट एक आत्माके ही सकलेतरातिशायिशक्तिमत्त्व, स्वेतरचेतनाचेतनरूप सर्वान्तरात्मत्त्व कहे जानेसे अन्य कोई आत्मा वैसी नहीं हो सकती है।

आत्मैकत्वका प्रतिपादन असंभव

आत्मतत्त्वकी एकता होनेसे उसकी ही सभीमें विद्यमानता होनेकेकारण तथा ईट् शब्दका वाच्य आत्मस्वरूप होनेसे भिन्न आत्माएं नहीं हैं। इसलिए ब्रह्मवेत्ता मुमुक्षुके स्वात्मस्वरूपमें सर्वभूतान्तरात्मत्वका अनुसंधान कहा जाता है। ऐसा नहीं कहना चाहिए क्योंकि ईट् शब्दके द्वारा ईश्वरत्वेन एक आत्माका निर्देश करके अन्य सब जगत्के ईशितव्यकी सिद्धि होनेसे इतर

आत्माओंको उनके शासनके अनुसरण करनेका विधान होनेसे पूर्वकथित आत्मभेदका ही इस प्रकरणमें स्पष्ट प्रतिपादन देखा जाता है, अतः यहाँ आत्मैकत्वप्रतिपादनकी गन्ध भी नहीं है।

पूर्वमन्त्रमें वैयधिकरण्यके द्वारा सबका ब्रह्मात्मकत्व कहा गया। अब उसे सामानाधिकरण्य से दृढ़ करते हुए सर्वभूतोंके अन्तरात्मा ब्रह्मके अनुभवसे शोक और मोहकी निवृत्ति कही जाती है–

सप्तमो मन्त्रः

यस्मिन् सर्वाणि भूतान्यात्मैवाभूद् विजानतः।
तत्र को मोहः कश्शोक एकत्वमनुपश्यतः॥ 7॥

अर्थ

विजानतः– स्वतन्त्र ईश्वर और परतन्त्र जगत्(सर्वभूत) के भेदको विवेचनपूर्वक जाननेवाले तथा **एकत्वम् अनुपश्यतः**– एकत्वका अनुसंधान करनेवाले को **यस्मिन्**– जब **सर्वाणि भूतानि**– सर्वभूतविशिष्ट **आत्मैव अभूत**– परमात्माका ही अनुभव होने लगा। **तत्र**– तब, **कः मोहः**– क्या मोह हो सकता है? और **कः शोकः**– क्या शोक हो सकता है? अर्थात् मोह और शोक नहीं हो सकते हैं।

व्याख्या

एकत्वका अनुसंधान–प्रस्तुत उपनिषत्में **ईशावास्यम्**(ई.उ. 1) से लेकर **ततो न विजुगुप्सते**(ई.उ. 6) पर्यन्त स्वतन्त्र परब्रह्म और परतन्त्र जगत्का उपदेश किया गया है। आचार्यके द्वारा उपदिष्ट शास्त्रसे ब्रह्म और जगत्के भेदको जो विवेचनपूर्वक जानता है और उन दोनोंके विभागानर्ह सम्बन्धविशेषका अनुसन्धान करता है, उसे जब सर्वजगत्के अन्तरात्मा परमात्माका अनुभव होता है, तब शोक और मोहकी आत्यन्तिकी निवृत्ति होती है। ब्रह्म और जगत्के भेददर्शीको सर्वभूतोंके अन्तरात्माका अनुभव कैसे हो सकता है? इस प्रश्नका उत्तर '**एकत्वमनुपश्यतः**' से कहा जाता

है। जिस परमात्माका शरीर पृथ्वी है—**यस्य पृथिवी शरीरम्**(बृ.उ. 3.7.7), जिस परमात्मा का शरीर आत्मा है—**यस्य आत्मा शरीरम्**(बृ.उ.मा.पा. 3.7.26) इत्यादि घटक[1] श्रुतियोंसे सिद्ध चेतनाचेतनरूप जगत् और ब्रह्मका सम्बन्धविशेष **एकत्वमनुपश्यतः** के द्वारा कहा जाता है। हे देवि! श्रीरामचन्द्र और सुग्रीवमें इस प्रकार एकत्व हुआ—**रामसुग्रीवयोरैक्यं देव्येवं समजायत**(वा.रा. 5.35.53)। जैसे इस श्रीमद्रामायणवचनमें घनिष्ठ सम्बन्धको लेकर एकत्व(ऐक्य) कहा गया है, वैसे ही इस श्रुतिमें घनिष्ठ सम्बन्धको लेकर एकत्व कहा गया है। जगत् और ब्रह्मका जो सम्बन्ध है, वही एकत्व है। परमात्मा शरीरी है, चराचर जगत् उनका शरीर है। शरीरी परमात्मा जगत्का शेषी है, जगत् शेष है। परमात्मा नियन्ता है, जगत् नियाम्य है। परमात्मा आधार है, जगत् आधेय है। जगत् परमात्मासे भिन्न है किन्तु वह परमात्मासे पृथक् नहीं है, अपृथक् है अर्थात् जगत्से भिन्न परमात्मा होनेपर भी जगत् परमात्मामें ही रहता है, उससे भिन्न किसीमें नहीं रहता। जगत् ब्रह्मसे अपृथक्सिद्ध(अपृथक् स्थित) होता है। जगत्का ब्रह्मसे अपृथक् सिद्धि सम्बन्ध है, वह विभागके अयोग्य सम्बन्धविशेष है। जगत् सदा ब्रह्मके ही आश्रित रहता है, उसका ब्रह्मसे विभाग(पार्थक्य, अलगाव) कभी भी नहीं होता है। यह विभागानर्ह सम्बन्धविशेष ही श्रुतिमें एकत्व शब्दसे कहा गया है। जो चर अथवा अचर वस्तु मेरेसे पृथक् स्थित हो, वह नहीं है—**न तदस्ति विना यत्स्यान्मया भूतं चराचरम्**(गी. 10.39) जगत् ब्रह्मका अपृथक्सिद्ध विशेषण है। वह अपने आश्रयसे अपृथक् सिद्ध होता है। जिस प्रकार रूप, रस और गन्धादिसे विशिष्ट एक फल होता है, वैसे ही सभी भूतोंसे विशिष्ट एक परमात्मा है। अतः **एकत्वमनुपश्यतः** का 'सभी भूतोंसे विशिष्ट परमात्माके एकत्व(अभेद) का अनुसंधान करनेवाला' अर्थ हो सकता है। श्रुतिका **सर्वाणि भूतानि** यह अंश सर्वभूतविशिष्ट अन्तरात्माका बोधक है। अतः सर्वभूतविशिष्ट अन्तरात्मा

---

1. भेदप्रतिपादक और अभेदप्रतिपादक श्रुतियोंमें विरोध प्रतीत होता है। इन श्रुतियोंका समन्वय स्थापित करनेवाली श्रुतियाँ घटकश्रुतियाँ कही जाती हैं। ये जगत् और ब्रह्मके शरीर-आत्मभाव सम्बन्धके प्रतिपादन द्वारा प्रतीयमान विरोधकी निवृत्ति करके उनकी संगति बताती है।

और परमात्माके एकत्वका अनुसंधानकर्ता अर्थ होता है, तथापि सर्वाणि भूतानि और आत्मा पद के सामानाधिकरण्यके अनुकूल सम्बन्धविशेषको ग्रहण करना श्रेष्ठ है।

'एकत्वमनुपश्यतः' यहाँ पर एकत्व शब्द एकसे भिन्न द्वितीयके अभावका बोधक नहीं है क्योंकि 'ईशावास्यमिदं सर्वम्' इस प्रकार ईश्वरसे व्याप्त कहे गये किसीका किसीसे भी बाध नहीं होता है। 'एकत्वमनुपश्यतः' इसके द्वारा ऐक्यके उपदेशसे जगत्का मिथ्यात्व माननेवाले विद्वानोंसे प्रश्न होता है कि उपदेशक आचार्यको जगत्के मिथ्यात्वका ज्ञान है या नहीं? 'आचार्यको जगत्के मिथ्यात्वका ज्ञान है', इस प्रथम पक्षमें जगत्के अन्तर्गत शिष्यके भी होनेसे उसके भी मिथ्यात्वका ज्ञान होने के कारण शिष्यको उपदेश करनेमें आचार्यकी प्रवृत्ति ही संभव नहीं होगी। 'आचार्यको जगन्मिथ्यात्वका ज्ञान नहीं है' इस द्वितीय पक्षमें आचार्य तत्त्ववेत्ता न होनेके कारण उसकी भी उपदेशमें प्रवृत्ति संभव नहीं होगी। अतः ऐक्योपदेश जगत्मिथ्यात्वका प्रतिपादक नहीं है। इस विषयकी विस्तृत जानकारीके लिए गीता-रामानुजभाष्य(2.12) का अवलोकन करना चाहिए। उक्त विवरणसे सिद्ध होता है कि श्रुतिमें आया एकत्व शब्द जगत् और ब्रह्मके सम्बन्धविशेषको सूचित करनेके लिए है।

सर्वभूतके अन्तरात्मा ब्रह्मका अनुभव

'देवोऽहम्' का अर्थ है– मैं देवशरीरवाला हूँ और 'मनुष्योऽहम्' का अर्थ है– मैं मनुष्य शरीरवाला हूँ। यहाँ देव और मनुष्य शब्द उन शरीरोंमें रहनेवाली आत्मा तकके बोधक होते हैं। जैसे- देवोऽहम् और मनुष्योऽहम् इन वाक्योंमें देव शब्द देवशरीरविशिष्ट(देव शरीरवाली) और मनुष्य शब्द मनुष्यशरीरविशिष्ट (मनुष्य शरीरवाली) का बोधक हे, वैसे ही **सर्वाणि भूतानि आत्मैवाभूत** इस वाक्य में 'सर्वाणि भूतानि' पद सर्वभूत से विशिष्ट अर्थके बोधक हैं। सर्वभूत(चेतनाचेतनरूप जगत्) का आत्मा ही सर्वभूतसे विशिष्ट होता है। जगत् विशेषण है, उससे विशिष्ट जगत्का अन्तरात्मा है। इस प्रकार **सर्वाणि भूतानि आत्मा** का अर्थ है–सभी भूतोंसे विशिष्ट परमात्मा। इस प्रकार आत्मशरीरभाव होनेसे मुख्यार्थको

लेकर ही सर्वाणि भूतानि आत्मैव अभूत यहाँ सामानाधिकरण्य[1] संभव होता है अतः बाधार्थ सामानाधिकरण्य या औपचारिक सामानाधिकरण्य मानना उचित नहीं है। सर्वभूतविशिष्ट परमात्मा सदा ही रहता है। प्रलयकालमें वह सूक्ष्म अर्थात् नामरूप-विभागके अयोग्य चेतनाचेतनसे विशिष्ट होकर रहता है और सृष्टि होनेपर स्थूल अर्थात् नामरूप-विभागके योग्य चेतनाचेतनसे विशिष्ट होकर रहता है। इसलिए **सर्वाणि भूतानि आत्मैवाभूत्** का अर्थ होता है–सर्वभूतविशिष्ट परमात्माका अनुभव होने लगा।

प्रकृत मन्त्रमें शोकमोहकी निवृत्तिका साधन सर्वभूतशरीरक परमात्माका अनुभव कहा जाता है। अनुभवका अर्थ है–दर्शन। श्रुतियोंमें मोक्षके साधनरूपसे कहे गये दर्शनका अर्थ दर्शनसमानाकार वृत्ति है। यहाँ भी शोक-मोहनिवृत्तिके साधनरूपसे कहे गये दर्शनका यही अर्थ जानना चाहिए। जगत् और ब्रह्मके सम्बन्धका प्रगाढ़ अनुसंधान करनेसे जगद्विशिष्ट ब्रह्मका अनुभव होने लगता है।

अनुभवका फल

मोह और शोकका कारण अज्ञान है। परमात्मसाक्षात्कारसे मोह और शोक के हेतु अज्ञानकी निवृत्ति होनेपर मोह और शोक हो ही नहीं सकते हैं। विपरीत ज्ञानको मोह कहा जाता है–**मोहः विपरीतज्ञानम्**(गी.रा.भा. 14.13) देहादिको आत्मा समझना, अपने को स्वतन्त्र समझना और किसी भी वस्तुको अपनी समझना मोह है। शास्त्रज्ञ पुरुषको भी मोह होता है। सर्व जगत्के अन्तरात्मा ब्रह्मका अनुभव करनेपर वह नहीं होता है। प्रिय वस्तुके वियोगसे होनेवाले दुःखको शोक कहते हैं–**इष्टविश्लेषजनितं दुःखमेव शोकः।**(आ.भा.ता.) सम्पूर्ण जगत् परमात्माकी विभूति है, अपना कुछ भी नहीं है इसलिए ब्रह्मोपासककी कहीं भी ममता नहीं होती है, ममता भी मोह है। सर्वभूतान्तरात्मा ब्रह्मका अनुभव करनेवालेको पुत्रमरण और राज्यका अपहरण आदि घटनाएं होनेपर भी कोई शोक नहीं होता। जनकने कहा है कि अन्यकी दृष्टिमें मेरे पास अनन्त धन है किन्तु उसमें मेरा कुछ भी नहीं है। सम्पूर्ण मिथिला राज्यके जल जानेपर भी मेरा कुछ

1. भिन्नप्रवृत्तिनिमित्तानां शब्दानाम् एकार्थबोधकत्वं सामानाधिकरण्यम्।

नहीं बिगड़ता है- **अनन्तं बत मे वित्तं यस्य मे नास्ति किञ्चन। मिथिलायां प्रदीप्तायां न मे दह्यति किञ्चन** ।(म.भा.शां. 17.19) मुण्डकश्रुति भी **भिद्यते हृदयग्रन्थिः**(मु.उ. 2.2.9) इस प्रकार परमात्मदर्शन से हृदयकी शोकमोहरूप ग्रन्थिकी निवृत्तिको कहती है।

षष्ठ मन्त्रमें जगत्का ब्रह्मात्मकत्वेन अनुसंधान कहा गया था और यहाँ सप्तम मन्त्रमें जगद्विशिष्ट ब्रह्मका अनुसंधान कहा गया। विशिष्टके अनुसंधानमें विशेषणका भी अनुसंधान होता है। सर्वभूतविशिष्ट परमात्माके अनुसंधानमें परमात्मा का प्रधानत्वेन(विशेष्यत्वेन) अनुसंधान होता है और जगत्का प्रकारत्वेन अनुसंधान होता है किन्तु ब्रह्मात्मक जगत्के अनुसंधानमें जगत्का विशेष्यत्वेन और ब्रह्मका प्रकारत्वेन अनुसंधान होता है। यही दोनों अनुसंधानोंमें भेद है। पूर्वमन्त्रमें ब्रह्मात्मक जगत्के अनुसंधानका फल निन्दाका अभाव कहा गया और पूर्व अनुसंधान से उत्तरकालमें होनेवाले सर्वभूतशरीरक ब्रह्मके अनुसंधानका फल शोकमोहकी निवृत्ति सप्तम मन्त्रसे कही गयी। पूर्वमन्त्रमें शोक-मोहनिवृत्तिका हेतु चेतनाचेतनात्मक जगत्के अन्तरात्मा ब्रह्मका अनुभव कहा गया। अब विशेष्यत्वेन अनुभवमें आनेवाले ब्रह्मस्वरूप और विशेषणत्वेन अनुभवमें आनेवाले जीवात्मस्वरूपका वर्णन किया जाता है-

अष्टमो मन्त्रः

स पर्यगाच्छुक्रमकायमव्रणमस्नाविरं शुद्धमपापविद्धम्।
कविर्मनीषी परिभूस्स्वयम्भूर्याथातथ्यतोऽर्थान्
व्यदधाच्छाश्वतीभ्यस्समाभ्यः॥ 8॥

अर्थ

सः-जगत्के अन्तरात्मा ब्रह्मका अनुभव करनेवालेने **शुक्रम्**-स्वप्रकाश **अकायम्**-कर्मजन्य शरीरसे रहित **अव्रणम्**-व्रणसे रहित **अस्नाविरम्**-स्नायुसे रहित **शुद्धम्**-अज्ञानादि दोष और षड् ऊर्मिसे रहित **अपापविद्धम्**-पुण्यपापसे रहित ब्रह्मस्वरूपका **पर्यगात्**-अनुभव किया। **कविः**-सर्वज्ञ अथवा काव्यके निर्माणकर्ता **मनीषी**-वशीभूत मनवाले **परिभूः**-कामक्रोधादि

विकारोंको जीतनेवाले **स्वयम्भूः**- नित्य आत्मस्वरूपदर्शी ब्रह्मके अनुभविताने **याथातथ्यतः**-यथावत् विवेचन करके **अर्थान्**-उपनिषद् प्रतिपाद्य अर्थोंको **शाश्वतीभ्यः समाभ्यः**-चिरकालपर्यन्त(हृदयमें) **व्यदधात्**-धारण किया।

व्याख्या

परब्रह्म चेतन है। चेतन वस्तु स्वप्रकाश होती है। 'शुक्रम्' पदसे ब्रह्मकी स्वप्रकाशता कही जाती है।

कर्मजन्य शरीरका अभाव

जिस परमात्माका पृथ्वी शरीर है– **यस्य पृथिवी शरीरम्**(बृ.उ. 3.7.7), जिस परमात्माका आत्मा शरीर है– **यस्य आत्मा शरीरम्**(बृ.उ.मा.पा.3.7.26), जिस परमात्माके सभी भूत शरीर हैं– **यस्य सर्वाणि भूतानि शरीरम्**(बृ.उ.मा.पा. 3.7.19) सम्पूर्ण जगत् आप का(परमात्माका) शरीर है–**जगत्सर्वं शरीरं ते**(वा.रा. 6.117.25) इत्यादि शास्त्रवचन सम्पूर्ण जगत्को परमात्माका शरीर कहते हैं। अतः प्रस्तुत मन्त्रमें पठित अकायम् शब्दका अर्थ सर्वथा शरीररहित नहीं हो सकता है, इसलिए इसका अर्थ कर्मजन्य शरीरसे रहित जानना चाहिए। सब कुछ भगवान्का शरीर है, इसलिए जीवके कर्मसे जन्य उसके शरीर भी परमात्माके शरीर हैं तो परमात्मा कर्मजन्य शरीर से रहित कैसे हो सकते हैं? ऐसी शंका करना उचित नहीं है क्योंकि यहाँ कर्मजन्य शरीरका अर्थ है– कर्मफलभोगके लिए अपने कर्मोसे जन्य शरीर। जीवका शरीर कर्मफलभोगके लिए उसके अपने कर्मोंसे जन्य है। परमात्माके जगत्कर्तृत्वादि कर्म हैं ही किन्तु वे कर्म उसके फलभोग के जनक नहीं हैं इसलिए परमात्माका कर्मफल भोग भी नहीं है। अतः जीवके शरीरको परमात्माका शरीर होनेपर भी वह परमात्माके कर्मोंसे जन्य नहीं है बल्कि स्वाभाविक है इसलिए परमात्मा सर्वशरीरक होनेपर भी कर्मजन्य शरीरसे रहित हैं। वे स्वाभाविक सबके शरीरी आत्मा हैं।

शंका–जब चेतनाचेतन सभी पदार्थ परब्रह्मके शरीर हैं तो वह प्राकृत शरीरसे रहित है, ऐसा क्यों कहा जाता है।

समाधान—परमात्माके सर्वशरीरक होनेपर भी दिव्यमङ्गलविग्रहकी अपेक्षासे उक्त कथन सम्भव होता है। उनका दिव्यमङ्गल विग्रह प्राकृत(त्रिगुणात्मक) नहीं है, अप्राकृत ही है। इस विषय का ही निम्न शास्त्रवचन प्रतिपादन करते हैं। मांस, मेद और अस्थिसे निर्मित भगवान्‌का प्राकृत शरीर नहीं है- **न तस्य प्राकृता मूर्तिर्मांसमेदोऽस्थिसंभवा।**(व.पु. 75.44) इत्यादि वचन श्रीभगवान्‌के प्राकृत विग्रहका निषेध करते हैं। आपका अत्यन्त कल्याणकारक जो दिव्यमङ्गल विग्रह है, उसे देखता हूँ- **यत्ते रूपं कल्याणतमं तत्ते पश्यामि**(ई.उ. 16) इत्यादि वचन अप्राकृत दिव्यमङ्गल विग्रहका प्रतिपादन करते हैं। इसका विस्तार आगे 16वें मन्त्रकी व्याख्यामें किया जाएगा।

व्रणका अर्थ होता है—घाव। अव्रणम् का अर्थ होता है- घावसे रहित। व्रण शब्द शरीरके सभी रोगोंका उपलक्षण है। संसारी प्राणियोंके शरीर भी परमात्माके शरीर हैं इसलिए उनमें व्रण होनेसे परमात्माको 'अव्रणम्' कैसे कहा जा सकता है? जिसके शरीरमें कर्मफल भोगके लिए व्रण होता है, उससे भिन्नको अव्रणम् कहा जाता है। जीवके शरीरमें उसके कर्मफल भोगके लिए व्रण होता है, उससे भिन्न परमात्माको ही 'अव्रणम्' कहा जाता है। आगे 16वें मन्त्रमें परमात्माके अप्राकृत दिव्यमङ्गल विग्रहका प्रतिपादन किया गया है। अतः यहाँ 8वें मन्त्रमें वस्तुतः दिव्यमङ्गलविग्रह के प्राकृतत्वका 'अकायम्' पदसे निषेध किया जाता है। प्राकृत शरीरमें ही व्रण होते हैं, अप्राकृत दिव्यमङ्गल विग्रहमें नहीं। अतः अप्राकृत शरीरवाले परमात्माको 'अव्रणम्[1]' कहा जाता है। स्नायु अर्थात् नाड़ियाँ जिसमें होती

---

1. जैसे देवदत्त के पुत्र का निषेध करने के लिए 'देवदत्त का पुत्र नहीं है'- अपुत्रः देवदत्तः यह कथन पर्याप्त है। फिर भी यदि कहा जाय कि देवदत्त का अन्धा पुत्र नहीं है, बधिर पुत्र नहीं है, पङ्गु पुत्र नहीं है, गूँगा पुत्र नहीं है तो इस कथन से देवदत्त का पुत्र अन्धत्वादि दोषोंसे रहित ही सिद्ध होता है। उसके पुत्र का अभाव सिद्ध नहीं होता। वैसे ही परमात्मा के विग्रह का निषेध करने के लिए 'अकायम्' शब्द पर्याप्त है, फिर भी 'अव्रणम्' आदि के कथन से परमात्माका दिव्यमङ्गल विग्रह व्रण आदि दोषों से रहित ही सिद्ध होता है। उसके विग्रह का अभव सिद्ध नहीं होता।

हैं, उसे 'स्नाविरम्' कहते हैं और उससे भिन्नको अस्नाविरम् कहते हैं। परब्रह्मके श्रीविग्रहमें प्राकृत नाड़ियाँ न होनेसे उन्हें 'अस्नाविरम्' कहा जाता है। अज्ञान और विपरीत ज्ञानसे रहित तथा षड् ऊर्मिसे रहित परमात्माको शुद्ध कहा जाता है। क्षुधा, पिपासा, शोक, मोह, जरा और मृत्यु ये 6 उर्मि हैं। इनसे रहित परमात्मा है। अपापविद्धम् का अर्थ है–पुण्यपापसे रहित। अनादिकाल से प्रवाहरूपमें चले आ रहे पुण्यपापात्मक कर्मोंके कारण मानवको अपने प्रत्यगात्मस्वरूप और परमात्मस्वरूपका ज्ञान नहीं होता है। ये कर्म ही अज्ञानके कारण हैं और विपरीत ज्ञानके भी कारण हैं। अज्ञान और विपरीत ज्ञानके कारण ही मनुष्य मोक्षसाधन में प्रवृत्त न होकर पुण्यपापात्मक कर्मोंमें प्रवृत्त होता है। इस प्रकार अज्ञानका कार्य तथा कारण भी पुण्यपापात्मक कर्म सिद्ध होता है। परमात्मा ऐसे पुण्यपापरूप कर्मोंसे रहित है। श्रुतिमें आया पापशब्द पुण्यका भी उपलक्षक है। छान्दोग्योपनिषत्में परमात्मा के प्रकरण में **न सुकृतं न दृष्कृतम्** इस प्रकार पुण्यपापके वाचक सुकृत, दुष्कृत् शब्दोंको कहकर **सर्वे पाप्मानोऽतो निवर्तन्ते**(छां.उ. 8.4.1) इस प्रकार पापशब्दसे उपसंहार देखा जाता है। इसलिए पुण्यका भी पाप शब्द से ग्रहण किया जाता है। इस प्रकार वर्णित अशेषहेयप्रत्यनीक ब्रह्म मुमुक्षुका प्राप्य, प्रापक और उपास्य होता है। इस अष्टम मन्त्रकी प्रथम पक्ंति के द्वारा अनुभाव्य अशेषहेयप्रत्यनीक ब्रह्म स्वरूपका वर्णन करके अब उसी सर्वभूतान्तरात्मा के अनुभव करनेवालेका वर्णन किया जाता है–

कविका अर्थ होता है–क्रान्तद्रष्टा अर्थात् अतीत, वर्तमान और भविष्यत् इन तीनों कालोंकी वस्तुओंको जानने वाला। यह सब जगत्शरीरक ब्रह्म है–**सर्वं खल्विदं ब्रह्म**(छां.उ. 3.14.1)। श्रुतियाँ ब्रह्मके ज्ञानसे सर्वका ज्ञान कहती हैं। ब्रह्मज्ञानी सर्वज्ञ होता है। इस प्रकार कविका सर्वज्ञ अर्थ होता है अथवा ब्रह्मस्वरूप उनके श्रीविग्रह, गुण और विभूतिके प्रतिपादक प्रबन्धका महर्षि वाल्मीकि, व्यासदेव और पराशरके समान निर्माणकर्ता अर्थ होता है। मनपर शासन करनेवाली बुद्धिको मनीषा कहते

हैं, ऐसी बुद्धिवालेको मनीषी कहते हैं–मनस ईशित्री बुद्धिः मनीषा, तद्वान् मनीषी अर्थात् अभ्यास और वैराग्यके द्वारा वशमें किए हुए मनवाला। दया, वात्सल्य, सौन्दर्य, सुशीलता आदि भगवद्गुणोंकी स्मृतिके अभ्याससे और अन्य विषयोंमें वैराग्यसे मनको वशमें किया जाता है। गीतामें कहा है– **असंशयं महाबाहो मनो दुर्निग्रहं चलम्। अभ्यासेन तु कौन्तेय वैराग्येण च गृह्यते**(गी. 6.35)।। कामक्रोधादि दुर्जय शत्रुओंको परास्त करनेवालेको परिभू कहा जाता है–**कामक्रोधादीन् दुर्जयान् अरातीन् परिभवतीति परिभूः।** ब्रह्मका अनुभविता परिभू होता है, जो परिभू नहीं है, वह ब्रह्मका अनुभव नहीं कर सकता है। परिभू शब्दसे मोक्षसाधनके विरोधीकी निवृत्तिरूप योगके अङ्गका आचरण कहा गया। स्वयं समर्थ होता है अर्थात् सुखरूप अपनी आत्माके दर्शनमें किसी साधन की अपेक्षा नहीं करता है, इसलिए दूसरे साधन की अपेक्षा न करके स्वात्मदर्शन करनेवाला स्वयम्भू कहलाता है–**स्वयं भवति प्रभवति सुखरूपस्वात्मदर्शने न कमपि अपेक्षते इति स्वयम्भूः इतराननपेक्ष्य स्वात्मदर्शी।**(आ.भा.) इसके द्वारा प्रत्यगात्माकी स्वयंप्रकाशता कही जाती है। अनुभविताका आत्मा स्वयंप्रकाश होनेके कारण दूसरेकी अपेक्षा न करके अपना प्रकाश करता है। इस प्रकार अचेतनसे इसके वैलक्षण्यका प्रतिपादन होता है। अकायम्का अर्थ है– प्राकृत शरीर से रहित। इस प्रकार अकायम् शब्दसे दिव्यमङ्गल विग्रहके प्राकृतत्वका ही निषेध किया जाता है, शरीरमात्रका निषेध नहीं किया जाता क्योंकि शास्त्र चेतनाचेतन सम्पूर्ण जगत्को भगवान्का शरीर कहते हैं। ब्रह्मदर्शीने उपनिषत्प्रतिपाद्य प्रापक प्रत्यगात्मस्वरूप, प्राप्य परब्रह्मस्वरूप, मोक्षफल, उपाय और विरोधी इन अर्थोंका तत्त्वतः विवेचन करके ब्रह्मसाक्षात्कारपर्यन्त इनको हृदयमें धारण किया। मुमुक्षु आचार्यके शरणापन्न होकर उपनिषत्प्रतिपाद्य अर्थोंको समझकर हृदयमें धारण करता है। बादमें प्रत्यक्ष अनुभवके लिए निदिध्यासन करता है। उन अर्थोंको समझनेके बाद विस्मृत होनेपर आगे मोक्षकी साधना संभव नहीं, इसलिए साक्षात्कारपर्यन्त हृदयमें धारण करना आवश्यक होता है।

ऊपर द्वितीयान्त पदोंको अनुभाव्य परब्रह्मका बोधक मानकर तथा

प्रथमान्त पदोंको अनुभविता जीवात्माका बोधक मानकर वर्णन किया गया। अब द्वितीयान्त पदोंको सर्वोपाधिविनिर्मुक्त परिशुद्ध जीवात्माका बोधक तथा प्रथमान्त पदोंको परब्रह्मका बोधक मानकर वर्णन किया जा रहा है–

अर्थ

सः-जगत्का अन्तरात्मा ब्रह्म **शुद्धम्**-प्रकृतिके सम्बन्धसे रहित **अपापविद्धम्**-पुण्यपाप से रहित **अकायम्**-शरीर से रहित **अव्रणम्**-व्रण से रहित **अस्नाविरम्**-स्नायु से रहित **शुक्रम्**-स्वयंप्रकाश जीवात्माको **पर्यगात्**-सब ओरसे व्याप्त करता है। वह सर्वात्मा ब्रह्म **कविः**-सर्वज्ञ अथवा पाञ्चरात्रादि ग्रन्थोंका प्रणेता **मनीषी**-मन आदि जीवके करणोंका नियन्ता **परिभूः**-सर्वव्यापक **स्वयम्भूः**-स्वेच्छासे अवतार लेनेवाले सर्वभूतान्तरात्मा ब्रह्मने **शाश्वतीभ्यः समाभ्यः**-चिरकाल स्थायी रहनेके लिए **अर्थान्**-कार्य पदार्थोंकी **याथातथ्यतः**-यथावत् **व्यदधात्**-रचना की।

व्याख्या

जीवात्मा स्वरूपतः प्रकृतिके सम्बन्धसे रहित है। अनादि पुण्यपापात्मक कर्मरूप अविद्याके कारण उसका प्रकृतिके साथ सम्बन्ध होता है। अज्ञान तथा उससे होनेवाले दुःखादि दोष प्रकृतिके सम्बन्धसे होते हैं। उसके सम्बन्धसे रहित आत्मा नित्य निर्दोष, ज्ञानानन्द स्वरूप और भगवान्का शेष है। प्रकृतिके साथ सम्बन्ध होनेसे वह अपने आत्मस्वरूप और परमात्मस्वरूपको न जानकर पुण्य-पापके हेतुभूत कर्मोंमें प्रवृत्त होता है, उन कर्मोंसे पुनः पुण्य-पाप और उनसे नूतन देह प्राप्त होता है। परिशुद्ध जीवात्मस्वरूप सर्वोपाधिविनिर्मुक्त है। कर्मरूप उपाधिसे देहादिरूप उपाधियाँ प्राप्त होती हैं। परिशुद्ध आत्मस्वरूपका पुण्य-पाप नहीं होता है। पुण्यपापके अभाववाला परिशुद्ध आत्मस्वरूप 'अपापविद्धम्' पदसे कहा जाता है। यहाँ पाप शब्द पुण्यका उपलक्षण है। जैसे पाप बन्धनकारक होता है, वैसे ही पुण्य भी। जैसे परिशुद्ध आत्मस्वरूप पापसे रहित है, वैसे ही पुण्यसे रहित है। पुण्यपाप कर्मोंसे ही जीवको शरीर प्राप्त होते हैं। पुण्यपापसे रहित होनेके

कारण परिशुद्ध आत्मस्वरूप शरीरसे रहित है। शरीरके होनेसे व्रण और स्नायु होते हैं। शरीररहित होनेसे वह व्रण और स्नायुसे भी रहित है। स्वयंप्रकाश है। ऐसे जीवात्मस्वरूपको परमात्मा सब ओरसे व्याप्त करके रहता है। वह परमात्मा सदा सर्वज्ञ होता है। महाभारतमें कहा है– **पञ्चरात्रस्य कृत्स्नस्य वक्ता नारायणः स्वयम्।** (म.भा.) पाञ्चरात्रके उपदेष्टा स्वयं श्रीभगवान् हैं। ग्रन्थरूपमें उपनिबद्ध करनेवाले दूसरे महर्षि हैं। परमात्मा सबके नियामक हैं। जीवके करणोंके भी नियामक हैं। मनीषी पद में मनस् शब्द आन्तरिक और बाह्य सभी करणोंका बोधक है। पूर्वमें पर्यगात् पदसे आत्मस्वरूपको व्याप्त करना कहा गया है। व्याप्त करनेवाला सर्वव्यापक परमात्मा परिभू[1] पदसे कहा जाता है। भगवान् स्वयं ही अवतार लेते हैं, इसलिए स्वयम्भूः कहे जाते हैं– **स्वयमेव भवति उद्भवति इति स्वयम्भूः**(रं.)। उनका अवतार स्वेच्छासे होता है, कर्मके अधीन उनके शरीर नहीं है। कर्माधीन जन्म न लेनेवाले परमात्मा विविध रूपोंमें अवतरित होते हैं– **अजायमानो बहुधा विजायते**(य.सं. 31.19)। परमात्माने चिरकाल स्थायी रहनेके लिए जगत्की तात्त्विक(सत्य) रचना की है। इससे यह सिद्ध होता है कि सत्यसंकल्पवाले परमात्मासे रचित जगत् तात्त्विक है। स्वप्नके पदार्थोंके समान कल्पित नहीं है। अबाधित वस्तुको तात्त्विक कहा जाता है। जगत्का बाध कभी नहीं होता है, बाध तो उसके अब्रह्मात्मकत्व का होता है। स्वप्नके पदार्थ सत्य होनेपर भी चिरस्थायी नहीं होते हैं। ब्रह्मात्मक जगत्का बाध न होने से वह तात्त्विक है। यह विषय **वैधर्म्याच्च न स्वप्नादिवत्**(ब्र.सू. 2.2.28) इस ब्रह्मसूत्रमें प्रतिपादित है।

ऊपर कर्मरूप अङ्गवाली तथा विचित्र शक्तिवाले ब्रह्मको विषय करनेवाली विद्या(ब्रह्मविद्या) का उपदेश किया गया। अब कर्मसे अनुग्रहीत ब्रह्मविद्यासे ही मोक्षप्राप्तिको कहनेके लिए केवल कर्मका अनुष्ठान करनेवाले और केवल विद्याका अनुष्ठान करनेवाले मनुष्यको प्राप्त होनेवाले अनर्थका वर्णन किया जाता है–

---

1. परितो भवतीति परिभूः-समन्ततो व्याप्तः सर्वव्यापक इति यावत्। (रं.)

नवमो मन्त्रः

अन्धं तमः प्रविशन्ति येऽविद्यामुपासते।
ततो भूय इव ते तमो य उ विद्यायां रताः॥9॥

अर्थ

ये- जो मनुष्य **अविद्याम्**- केवल कर्मका **उपासते**- अनुष्ठान करते हैं, वे **अन्धम्**- अत्यन्त गहन **तमः**- अज्ञानको **प्रविशन्ति**- प्राप्त करते हैं। **ये**- जो मनुष्य **विद्यायाम्**- केवल ब्रह्मविद्यामें **उ**- ही **रताः**- प्रवृत्त हैं। **ते**- वे **ततः**- कर्मनिष्ठको प्राप्त होने वाले अज्ञानसे **भूय इव**[1] **तमः**- अधिक अज्ञानको प्राप्त करते हैं।

व्याख्या

केवल कर्मका फल—प्रस्तुत मन्त्रमें अविद्या शब्द कर्मका वाचक है। कर्मका नाम अविद्या है— **अविद्या कर्मसंज्ञा**(वि.पु. 6.7.61)। इसका विशद् विवेचन 11वें मन्त्रकी व्याख्यामें किया जाएगा। भोग और ऐश्वर्यमें आसक्त जो मनुष्य स्वर्गादि फलके लिए ब्रह्मविद्यासे रहित कर्ममात्रका अनुष्ठान करते हैं, वे अतिगहन अज्ञानको प्राप्त करते हैं। जिन मनुष्योंको यह ज्ञान है कि ब्रह्मविद्यासे मोक्ष प्राप्त होता है, ब्रह्मविद्याका अङ्ग कर्म है। वे यथार्थवेत्ता होते हैं किन्तु जिनको ऐसा ज्ञान नहीं है, वे संसार में आसक्त अज्ञानी मनुष्य केवल कर्म के अनुष्ठानसे अतिगहन अज्ञानको प्राप्त करते हैं अथवा कालान्तरमें निषिद्ध कर्मके आचरणसे अतिगहन अन्धकारसे युक्त नरकको प्राप्त करते हैं। ये यज्ञरूप नौकाएं संसारसे पार ले जानेमें समर्थ नहीं हैं— **प्लवा ह्येते अदृढा यज्ञरूपाः**(मु.उ. 1.2.7) श्रौत और स्मार्त कर्मोंको ही श्रेष्ठ मानते हुए जो मूढ़ पुरुष कर्म से अन्य मोक्षके साधन को नहीं जानते हैं। वे सुकृत्से साध्य स्वर्गलोकमें सुखका अनुभव करके मनुष्यलोकको अथवा उससे भी हीन नरकादि लोकोंको प्राप्त करते हैं—**इष्टापूर्तं मन्यमाना वरिष्ठं नान्यच्छ्रेयो वेदयन्ते प्रमूढाः। नाकस्य पृष्ठे ते सुकृतेऽनुभूत्वा इमं लोकं हीनतरं वा विशन्ति॥**(मु.उ. 1.2.10)

---

1. इव शब्दः तमस इयत्ताया दुर्ग्रहत्वं द्योतयति।(वे.भा.)

केवल ब्रह्मविद्याका फल

'हम मुमुक्षुओंका कर्मसे क्या प्रयोजन' ऐसा समझकर जो ब्रह्मविद्या के अङ्ग स्ववर्णाश्रमोचित कर्मका पूर्णतः त्याग करके ब्रह्मविद्यामें प्रवृत्त होते हैं, वे केवल कर्मनिष्ठको प्राप्त होनेवाले अज्ञानसे भी अधिक अज्ञान अथवा अधिक नरक को प्राप्त करते हैं। केवल कर्मनिष्ठ ब्रह्मविद्याको छोड़कर शास्त्रविहित कर्मानुष्ठान करता है। ब्रह्मविद्या का अनुष्ठान न करनेसे उसे मोक्ष प्राप्त नहीं होता है, फिर भी कर्माचरणके कारण उसकी शीघ्र उतनी दुर्गति नहीं होती है। केवल ब्रह्मविद्यामें प्रवृत्त हुआ मनुष्य कर्मको छोड़नेसे ब्रह्मविद्याको निष्पन्न कर ही नहीं सकता है, प्रत्युत नित्यनैमित्तिक कर्मोंको छोड़नेसे प्रत्यवायको प्राप्त करता है, जिससे उसका अज्ञान उत्तरोत्तर दृढ़ होता चला जाता है। वह कालान्तर में निषिद्ध कर्म के अनुष्ठान से नरक को भी प्राप्त करता है।

पूर्वमें केवल कर्म और केवल ज्ञान दोनोंको ही अनर्थका हेतु कहा गया तो मोक्षका साधन क्या है? ऐसी जिज्ञासा होने पर कहते हैं–

दशमो मन्त्रः

अन्यदेवाहुर्विद्ययाऽन्यदाहुरविद्यया ।
इति शुश्रुम धीराणां ये नस्तद् विचचक्षिरे॥10॥

अर्थ

उपनिषदें मोक्षके साधनको **विद्यया**[1]– केवल विद्यासे **अन्यद्**– भिन्न **एव**– ही **आहुः**– कहती हैं और **अविद्यया**– केवल कर्मसे **अन्यद्**– भिन्न ही **आहुः**– कहती हैं। **इति**– इस प्रकार हमने **धीराणाम्**– ब्रह्मवेत्ता आचार्योंके वचन **शुश्रुमः**– सुने हैं। **ये**–जिन्होंने **नः**–हम सबको **तद्**– मोक्षसाधनका **विचचक्षिरे**[2]– उपदेश किया।

---

1. पञ्चम्यर्थे तृतीया (ई.प्र.)।
2. व्याचचक्षिरे इति पाठान्तरः।

व्याख्या

मोक्षका साधन केवल विद्यासे भिन्न है और केवल कर्मसे भिन्न है। प्रणिपातादिके द्वारा प्रसन्न हुए ब्रह्मध्यानपरायण ब्रह्मवेत्ता आचार्योंके वचन हमने सुने हैं। जिन्होंने हम शरणागतोंको मोक्षके साधनका विवेचन करके उपदेश किया। इस कथनसे यह अर्थ सम्प्रदाय परम्परासे प्राप्त सिद्ध होता है।

दशम मन्त्रमें 'अन्यद्' इस प्रकार सामान्यरूपसे कहे गये मोक्षके साधनका अब विस्तारसे वर्णन किया जाता है-

एकादशो मन्त्रः

विद्यां चाविद्यां च यस्तद्वेदोभयं सह।
अविद्यया मृत्युं तीर्त्वा विद्ययाऽमृतमश्नुते॥11॥

अर्थ

यः-जो मुमुक्षु **विद्यां च**- विद्या **अविद्यां च**-और कर्म **तद्**-उन **उभयम्**-दोनोंको **सह**-अङ्गाङ्गिभावसे **वेद**-जानता है। वह **अविद्यया**-कर्मसे **मृत्युम्**-प्रतिबन्धक प्राचीन कर्मोंका **तीर्त्वा**-अतिक्रमण करके **विद्यया**-विद्यासे **अमृतम्**-मोक्षको **अश्नुते**-प्राप्त करता है।

व्याख्या

मोक्षकी साधन विद्या-यथावस्थित उपदेशको प्राप्त किया हुआ जो मुमुक्षु ब्रह्मविद्या और उसके अङ्ग कर्मको अङ्गाङ्गिभावसे अनुष्ठेय जानता है। वह विद्याके अङ्गरूप से विहित कर्मके द्वारा ब्रह्मविद्याकी उत्पत्तिके प्रतिबन्धक पुण्यपापरूप प्राचीन कर्मोंका अतिक्रमण करके विद्यासे मोक्षको प्राप्त करता है। इस उपनिषद्के नवम और दशम मन्त्रोंके समान एकादश मन्त्रमें आया विद्या शब्द मोक्षकी साधन ब्रह्मविद्या अर्थात् उपासनात्मक ज्ञानको कहता है और अविद्याशब्द विद्यासे भिन्न कर्मको कहता है। यह

कर्म विद्याका अङ्ग होता है और विद्या अङ्गी होती है। ये दोनों परस्पर में विरोधके प्रसङ्गसे रहित हैं। अङ्गी ब्रह्मविद्या और उसका अङ्ग कर्म दोनों ही अनुष्ठेय हैं। इनमें अनुष्ठेयत्व की समानता है, इसलिए **वेदोभयं सह** इस प्रकार सामान्यरूपसे दोनोंको वेदनीय(ज्ञेय) कहा है। त्याग करनेके लिए कर्म वेदनीय है और ग्रहण करने के लिए विद्या वेदनीय है, ऐसा नहीं है किन्तु अङ्ग-अङ्गीभावसे दोनोंका अनुष्ठान करनेके लिए दोनों उपादेय(ग्राह्य) हैं, इसलिए सामान्यतः दोनों वेदनीय कहे गये हैं। पूर्व मन्त्रमें कर्मकी निन्दा होनेसे वैसा ही मानना उचित है तो विद्याकी भी निन्दा होनेसे क्या श्रुति दो हेय(त्याज्य) के अनुष्ठान का उपदेश कर सकती है? और वैसा होनेपर **अविद्यया मृत्युं तीर्त्वा विद्ययाऽमृतमश्नुते** यह उत्तर वाक्य भी व्यर्थ होता है। इस दोषके निवारणके लिए अनुष्ठेयत्व की समानताके कारण ही दोनोंके अनुष्ठानका विधान मानना उचित है। ब्रह्मविद्याकी उत्पत्तिके प्रतिबन्धक पुण्यपापरूप कर्म अनादि कालसे सञ्चित हो रहे हैं, इनके कारण उपासनात्मिका ब्रह्मविद्याका आरम्भ ही नहीं होता है। विद्याके अङ्गभूत आश्रमविहित नित्य नैमित्तिक कर्मोंके अनुष्ठानसे प्रतिबन्धक कर्मोंके क्षीण होनेपर ब्रह्मविद्याका उदय होता है और जैसे-जैसे कर्मानुष्ठानसे प्रतिबन्धक पुण्यपापका क्षयरूप अन्तःकरण की निर्मलता होती है, वैसे-वैसे उत्तरोत्तर ब्रह्मविद्या प्रकर्षताको प्राप्त होते हुए अपरोक्षात्मिका हो जाती है। यह विद्या ही मोक्षकी साधन है। विद्याका अङ्ग कर्म है। कर्मानुष्ठानके विना इसकी निष्पत्ति संभव नहीं है। प्रतिबन्धककी निवृत्तिके द्वारा ब्रह्मविद्या की निष्पत्ति में कर्म हेतु होता है, अतः कर्मानुष्ठान करना अत्यन्त आवश्यक है।

शंका– अभी आपने मृत्यु शब्दका अर्थ पुण्यपापरूप कर्म किया है और कर्म ही मोक्षके प्रतिबन्धक होते हैं, अतः इनका तरण(अतिक्रमण) ही मोक्ष है। इनका तरणरूप मोक्ष तो अविद्या अर्थात् कर्मसे ही हो जाता है, अतः पुनः **अमृतमश्नुते** कहने से पुनरुक्ति दोष होता है।

समाधान– यह शंका उचित नहीं है क्योंकि **मृत्युं तीर्त्वा** यह वचन मोक्षकी उपाय ब्रह्मविद्याके विरोधी (प्रतिबन्धक) कर्मोंके तरणका बोधक

है और **अमृतमश्नुते** यह वचन मोक्षप्राप्तिके विरोधी सम्पूर्ण कर्मोंकी निवृत्तिका बोधक है। कहनेका अभिप्राय यह है कि कुछ कर्म विद्या की उत्पत्ति के प्रतिबन्धक होते हैं और कुछ कर्म मोक्षप्राप्तिके प्रतिबन्धक होते हैं। प्रतिबन्धक कर्मकी निवृत्ति होने पर निदिध्यासनरूप ब्रह्मविद्याका आरम्भ होता है और इसके आरम्भ होते ही मोक्ष प्राप्त नहीं होता, क्योंकि इस समय भी मोक्षप्राप्तिके प्रतिबन्धक कर्म विद्यमान होते हैं। इनकी निवृत्ति ध्रुवास्मृति अर्थात् प्रीतिरूपापन्न दर्शनसमानाकार ब्रह्मविद्यासे ही होती है। ध्रुवास्मृति होनेपर अविद्या तथा रागादि ग्रन्थियोंका आत्यन्तिक नाश होता है–**स्मृतिलम्भे सर्वग्रन्थीनां विप्रमोक्षः**(छां.उ. 7.26.2)। परावर परमात्माका दर्शन(दर्शनसमानाकार ज्ञान) होनेपर रागादिग्रन्थियाँ नष्ट हो जाती हैं, संशय-विपर्यय नष्ट हो जाते हैं और सभी कर्म नष्ट हो जाते हैं–**भिद्यते हृदयग्रन्थिश्छिद्यन्ते सर्वसंशयाः। क्षीयन्ते चास्य कर्माणि तस्मिन् दृष्टे परावरे॥**(मु.उ. 2.2.9) ब्रह्मसूत्र श्रीभाष्य के अनुसार विद्यासे ब्रह्मको प्राप्त करता है, यह अर्थ भी विद्ययाऽमृतमश्नुते इस वाक्य का संभव है क्योंकि **एतदमृतमभयमेतद् ब्रह्म**(छां.उ. 4.15.1) इस प्रकार छाग्दोग्य श्रुतिमें ब्रह्मको अमृत कहा गया है।

विद्याका अङ्ग कर्म

शास्त्रश्रवणजन्य ज्ञानवाले राजा केशिध्वजने भी ब्रह्मविद्या की उत्पत्तिको लक्ष्य करके कर्मोंसे विद्याकी उत्पत्तिके विरोधी प्राचीन पुण्यपापरूप कर्मोंका अतिक्रमण करनेके लिए बहुतसे यज्ञोंका अनुष्ठान किया–**इयाज सोऽपि सुबहून्यज्ञान् ज्ञानव्यपाश्रयः। ब्रह्मविद्यामधिष्ठाय तर्तुं मृत्युमविद्यया॥**(वि.पु. 6.6.12) इस पुराण वचनमें भी अविद्या शब्द विद्याङ्ग कर्मका वाचक है। विद्या और कर्ममें अङ्गाङ्गिभाव प्रतिपादित है। मृत्युशब्द विद्योत्पत्तिके प्रतिबन्धक कर्मका वाचक है। शास्त्रविहित कर्मसे पापका नाश होता है–**धर्मेण पापमपनुदति**(तै.ना.उ. 144) यह तैत्तिरीय श्रुति कर्मसे विद्योत्पत्तिके विरोधी पुण्यपापकी निवृत्तिको कहती है। कर्म प्रतिबन्धक पुण्यपापकी निवृत्तिके द्वारा विद्योत्पत्तिमें हेतु होते हैं। इसलिए कर्मको परम्परया अर्थात् विद्याके द्वारा मोक्षका साधन कहा जाता है।

अङ्गाङ्गिभावसे कर्म और विद्याका अनुष्ठान

फलेच्छापूर्वक अनुष्ठीयमान कर्म ही मोक्षके विरोधी फलान्तरके हेतु होते हैं। इसलिए उनका ही ब्रह्मविद्यासे विरोध होता है। अतः उनका विद्याके साथ अनुष्ठान नहीं हो सकता है किन्तु फलेच्छारहित अनुष्ठीयमान कर्मका विद्यासे विरोध नहीं होता है। वे ब्रह्मविद्याकी निष्पत्तिके हेतु होते हैं। उनका विद्याके साथ अनुष्ठान होता है। कर्म और विद्यामें अङ्गाङ्गिभावसे साहचर्य होनेके कारण दोनोंका अनुष्ठान किया जाता है।

मृत्युशब्दसे कहे गये विद्याकी निष्पत्तिके विरोधी पुण्यपापरूप प्राचीन कर्मोंका नाश अविद्याशब्दसे कथित कर्मका फल है तथा अमृतशब्दसे कथित मोक्ष विद्याका फल है। इनमें पुण्यपापरूप कर्मोंके नाश हुए विना विद्याकी निष्पत्ति ही नहीं हो सकती है और विद्याकी निष्पत्ति न होनेपर मोक्षप्राप्तिरूप फल संभव नहीं, इसलिए प्रथम फलके साधन कर्म और द्वितीय फलकी साधन विद्यामें परस्पर विरोध का प्रसङ्ग ही नहीं है। ब्राह्मणके लिए आश्रमविहित कर्म और विद्या मोक्षकी साधन हैं, वह तप(कर्म) से विद्याके विरोधी पुण्यपापरूप कर्मोंको नष्ट करता है और ब्रह्मविद्यासे मोक्षको प्राप्त करता है–**तपो विद्या च विप्रस्य निःश्रेयसकरं परम्। तपसा किल्विषं हन्ति विद्ययाऽमृतमश्नुते**(म.स्मृ. 12.104)।

शंका–ऊपर वर्णित अर्थका 'कर्मसे पितृलोककी प्राप्ति होती है और विद्यासे देवलोककी प्राप्ति होती है'–**कर्मणा पितृलोको विद्यया देवलोकः**।(बृ.उ.1.5.16) इस बृहदारण्यक श्रुतिसे विरोध होता है क्योंकि इसमें कर्म और विद्याके भिन्न फल वर्णित हैं।

समाधान–यह शंका उचित नहीं क्योंकि उक्त बृहदारण्यक श्रुति काम्यकर्मसे पितृलोककी प्राप्ति और काम्य विद्याविशेष(देवोपासना) से देवलोककी प्राप्तिको कहती है। यह श्रुति कर्मसे विद्याके अङ्ग कर्मोंको नहीं कहती और विद्यासे मोक्षकी साधन विद्या(ब्रह्मोपासना) को नहीं कहती। नश्वर लोकोंकी प्राप्ति काम्यकर्मका फल है, विद्याङ्ग कर्मका नहीं। त्रिपादविभूतिरूप भगवद्धामकी प्राप्ति काम्य विद्या देवोपासना से नहीं होती है, वह तो मोक्षकी साधन ब्रह्मविद्यासे होती है।

शंका—ब्राह्मण वेदाध्ययन, यज्ञ, दान और अनाशक तप(उपवासरूप तप अथवा अनशन रूप तप) से ब्रह्मको जानने की इच्छा करते हैं—**तमेतं वेदानुवचनेन ब्राह्मणाः विविदिषन्ति यज्ञेन दानेन तपसाऽनाशकेन**(बृ. उ. 4.4.22)। यह श्रुति कर्मोंका विविदिषा(मुमुक्षा) में उपयोग कहती है, अतः ब्रह्मजिज्ञासा न होने तक कर्म करना चाहिए और जिज्ञासा होनेपर कर्मको छोड़ देना चहिए।

समाधान—यह शंका उचित नहीं है क्योंकि जैसे अश्वसे जानेकी इच्छा करता है—अश्वेन जिगमिषति, तलवारसे मारनेकी इच्छा करता है-असिना हन्तुमिच्छति। यहाँ पर अश्वका गमनकी इच्छामें उपयोग नही होता है, गमनमें उपयोग होता है और तलवारका हननकी इच्छामें उपयोग नहीं होता है, हननमें उपयोग होता है। वैसे ही कर्म विविदिषाके साधन सिद्ध नहीं होते हैं, ज्ञान(विद्या)के ही साधन सिद्ध होते हैं। कर्म अन्तःकरण की शुद्धि के द्वारा विद्याके साधन होते हैं। अतः विविदिषा उत्पन्न होते ही कर्मोंका त्याग नहीं करना चाहिए क्योंकि ऐसा करनेपर ब्रह्मविद्याकी निष्पत्ति ही नहीं होगी और ब्रह्मविद्याकी निष्पत्ति न होनेपर अविद्याकी निवृत्ति नहीं हो सकती। छान्दोग्यमें ब्रह्मविद्यानिष्ठ अश्वपति कैकय ने कहा है- हे भगवन्! मैं शीघ्र ही यज्ञ करनेवाला हूँ—**यक्ष्यमाणो वै भगवन्तोऽहमस्मि** (छां.उ. 5.11.5)। इस श्रुतिसे ज्ञानीके द्वारा भी ज्ञान के अङ्गरूपसे कर्तव्यकर्मोंको करना सिद्ध है। कर्मोंको करनेवाला मनुष्य ब्रह्मवेत्ताओंमें श्रेष्ठ होता है—**क्रियावानेष ब्रह्मविदां वरिष्ठः**(मु.उ. 3.1. 4)। यहाँ कर्मानुष्ठान करनेवालेको जिज्ञासुओंमें श्रेष्ठ नहीं कहा है बल्कि ब्रह्मवेत्ताओंमें श्रेष्ठ कहा है क्योंकि शास्त्रज्ञानवाले ब्रह्मविद्यानिष्ठ मुमुक्षुका कर्मानुष्ठानसे अन्तःकरण निर्मल होने पर उसे ब्रह्मविद्याकी निष्पत्ति होती है। कर्म न करनेवाले ब्रह्मविद्यानिष्ठका अन्तःकरण निर्मल न होने से ब्रह्मविद्याकी निष्पत्ति नहीं होती है। कर्मानुष्ठानसे जैसे-जैसे अन्तःकरण निर्मल होता है, वैसे-वैसे उत्तरोत्तर ब्रह्मविद्या उत्कर्षताको प्राप्त करती है। और महर्षि वेदव्यासने **सर्वापेक्षा च यज्ञादिश्रुतेरश्ववत्**(ब्र.सू.3.4.26) और **सहकारित्वेन च**(ब्र.सू. 3.4.33) इन सूत्रोंके द्वारा कर्मको विद्याका सहकारी

कहा है। ईशावास्यमें भी **कुर्वन्नेवेह कर्माणि** (ई.उ. 2) और **विद्यां च अविद्यां च** (ई.उ.11) ये श्रुतियाँ ब्रह्मवेत्ताके लिए ही कर्म और ज्ञान (ब्रह्मविद्या) दोनोंके अनुष्ठानका प्रतिपादन करती हैं अतः कर्म और ज्ञानमें कोई विरोध नहीं है। उक्त प्रमाणोंसे कर्म विद्याके सहकारी सिद्ध होते हैं। इसलिए 'ब्रह्मवेत्ताके द्वारा कर्म और ब्रह्मविद्या दोनोंका अनुष्ठान संभव नहीं है' यह कथन शास्त्रविरुद्ध है। उपनिषद् भागमें ब्रह्मवेत्ताके द्वारा अनुष्ठीयमान विद्याके अङ्ग कर्मका प्रतिपादन है, अतः यहाँ विद्याका अर्थ देवोपासना और अमृतका अर्थ गौण मोक्ष करना उचित नहीं है।

शंका–जिन हम सबका यह परमात्मा ही लोक है, वे हम सभी प्रजासे क्या करेंगे?– **किं प्रजया करिष्यामो येषां नोऽयमात्माऽयं लोकः**(बृ. उ. 4.4.22)। इस प्रकार ब्रह्मवेत्ताके द्वारा गृहस्थाश्रम का त्याग देखा जाता है। ऋषिसमूहके द्वारा सम्यक् सेवित परम पवित्र ज्ञानका परमहंस संन्यासियोंको उपदेश किया–**अत्याश्रमिभ्यः परमं पवित्रं प्रोवाच सम्यग् ऋषिसंघजुष्टम्** (श्वे.उ. 6.21)। इस प्रकार संन्यासियोंके लिए ब्रह्मविद्याका उपदेश देखा जाता है। अतः संन्यासियोंका ही ब्रह्मविद्यामें अधिकार है। संन्यासाश्रममें अग्निहोत्रादि कर्मोंका अभाव होनेसे विद्याके लिए कर्मकी अपेक्षा नहीं है, ऐसा निश्चित होता है। अतः ब्रह्मविद्यानिष्ठ मुमुक्षुके द्वारा विद्याके साथ कर्मानुष्ठान नहीं हो सकता है। इसलिए अविद्या(कर्म) और विद्या दोनोंके अनुष्ठानकी विधायक **विद्यां चाविद्यां च** यह श्रुति अज्ञानी के लिए है।

समाधान- ***ब्रह्मविद्यामें सभी आश्रम वालों का अधिकार***- **तमेतं वेदानुवचनेन ब्राह्मणा विविदिषन्ति यज्ञेन दानेन तपसाऽनाशकेन**(बृ. उ. 4.4.22) इस श्रुतिके द्वारा ब्रह्मविद्याका अङ्ग कर्म ज्ञात होता है। अतः ब्रह्मविद्याके लिए कर्मकी अपेक्षा नहीं है, ऐसा कहना अनुचित ही है। गृहस्थाश्रममें विद्याके अङ्ग यज्ञादि कर्म संभव होनेसे उसका ब्रह्मविद्यामें अधिकार होता है। यद्यपि संन्यासाश्रम में यज्ञ, दान, और अग्निहोत्रादि कर्म नहीं हैं, फिर भी स्वाध्याय, जप, तपादि विद्याके उपकारक कर्म हैं ही, इन अङ्गभूत कर्मोंके होनेसे संन्यासीका भी विद्यामें अधिकार संभव होता है। पूर्वकल्पमें ब्रह्माके लिए उपदिष्ट तथा रहस्य होनेसे उपनिषदोंमें अत्यन्त

गोपनीय तत्त्वका उपदेश अशान्तचित्त, अपुत्र और अशिष्यको नहीं करना चाहिए–**वेदान्ते परमं गुह्यं पुराकल्पे प्रचोदितम्। नाप्रशान्ताय दातव्यं नापुत्रायाशिष्याय वा पुनः**(श्वे.उ. 6.22) इस मन्त्रमें अपुत्रको उपदेश न करने अर्थात् पुत्रको उपदेश करनेको कहा गया है। पुत्र गृहस्थका ही होता है, संन्यासीका नहीं। अतः इस श्रुतिसे गृहस्थका भी ब्रह्मविद्यामें अधिकार सिद्ध हो जाता है। उपनिषदोंमें ब्रह्मविद्याके उपदेशक और श्रोता दोनों गृहस्थ सुने जाते हैं। अतः संन्यासियोंका ही विद्यामें अधिकार है, गृहस्थका नहीं। इस अभिप्रायवाले 'संन्यासके सहित आत्मज्ञान मोक्षका साधन है'– **आत्मज्ञानं ससंन्यासं मोक्षसाधनम्**(बृ.उ.शां.भा. 4.5.1की अवतरणिका) इत्यादि कथन विचारणीय ही हैं।

फलेच्छासे रहित होकर किये जानेवाले नित्य-नैमित्तिक कर्मोंसे साध्य विद्याका प्रतिपादन करके अब अग्रिम तीन मन्त्रोंसे निषिद्धकी निवृत्तिरूप अहिंसा, अस्तेयादि योगके अङ्गोंसे साध्य समाधिरूप उसी विद्याको कहा जाता है। उनमें प्रथम एक-एक का अनुष्ठान करनेवालेकी निन्दा की जाती है–

द्वादशो मन्त्रः

अन्धं तमः प्रविशन्ति येऽसम्भूतिमुपासते।
ततो भूय इव ते तमो य उ सम्भूत्यां रताः ॥12॥

अर्थ

ये- जो मनुष्य **असम्भूतिम्**- केवल अहिंसादिका **उपासते**- आचरण करते हैं, वे **अन्धं तमः**- अत्यन्त गहन अज्ञानको **प्रविशन्ति**- प्राप्त करते हैं। **ये**- जो मनुष्य **सम्भूत्यां**[1]- केवल समाधिरूप ब्रह्मविद्यामें **उ**- ही **रताः**- प्रवृत्त हैं। **ते**- वे **ततः**- असम्भूति(अहिंसादि) निष्ठको प्राप्त होनेवाले अज्ञानसे **भूय इव तमः**- अधिक अज्ञानको प्राप्त करते हैं।

1. सम्भूति शब्देन मोक्षाभिधानद्वारा तत्साधनीभूता विद्या लक्ष्यते(र.पे.)

व्याख्या

केवल निषिद्धनिवृत्तिका फल–इस कर्मकृत शरीरसे निकलकर ब्रह्मको प्राप्त करुँगा- **एतमितः प्रेत्याभि संभवितास्मि।** (छां.उ. 3.14. 4), मैं ब्रह्मलोकको प्राप्त कर रहा हूँ– **ब्रह्मलोकमभिसंभवामि।**(छां.उ. 8.13.1) इत्यादि श्रुतियोंमें सम्भूति शब्द(सम्पूर्वक भू धातु से निष्पन्न शब्द) ब्रह्मप्राप्तिरूप मोक्ष अर्थ में है किन्तु प्रस्तुत श्रुतिमें सम्भूति शब्द समाधिकी पर्याय ब्रह्मोपासनारूप विद्याको कहता है और असम्भूति शब्द समाधिरूप सम्भूतिसे भिन्न उसके अङ्ग निषिद्ध कर्मोंकी निवृत्तिको कहता है। जो हिंसा, मिथ्याभाषण, स्तेय आदि तथा अभिमान, दम्भ, द्वेष आदि हैं। वे समाधिके पर्याय भक्तियोगरूप विद्याकी निष्पत्तिके प्रतिबन्धक हैं। अतः मोक्षाभिलाषीको समाधिके सहित इनकी निवृत्तिरूप अहिंसा, सत्य, अस्तेय आदि तथा अनभिमान, दम्भाभाव और द्वेषाभाव आदिका आचरण करना चाहिए। जो मुमुक्षु ब्रह्यविद्याको छोड़कर केवल निषिद्ध कर्मोंके त्यागरूप अहिंसादिका आचरण करता है। वह अहिंसादिको ही मोक्षका साधन समझनेके कारण ब्रह्मविद्याके लिए प्रयास नहीं करता है, इसलिए ब्रह्मविद्याकी निष्पत्ति नहीं होती है। इस कारण उसकी अशेष अविद्यात्मिका कर्मराशि दग्ध नहीं होती है। अतः कभी प्रबल अशुभ संस्कारका उदय होनेपर निषिद्ध कर्मके आचरणसे उसका अज्ञान अत्यन्त गहन होता चला जाएगा। जिससे वह अत्यन्त दुर्गतिको प्राप्त करेगा। इसलिए केवल निषिद्ध कर्मके त्यागमें ही निरत रहनेवालोंकी निन्दाकी गयी है।

केवल समाधिका फल

जो मुमुक्षु निषिद्धकर्मोंका त्याग न करके ब्रह्मविद्याके अनुष्ठानमें लगे रहते हैं। निषिद्ध कर्मोंका वर्जन न करनेके कारण उनको ब्रह्मविद्याकी निष्पत्ति हो ही नहीं सकती। उनका विद्याके अनुष्ठानका प्रयास मरुभूमिपर वर्षाके समान निष्फल है। निषिद्धकी निवृत्तिका आचरण न करनेसे प्रबल पापराशि सञ्चित होनेके कारण विद्याकी निष्पत्ति नहीं हो सकती है। अतः विद्याके फल मोक्षकी कल्पना भी नहीं की जा सकती है और वह

निषिद्धकी निवृत्ति न करनेसे पापराशि सञ्चित होनेके कारण केवल निषिद्धनिवृत्तिका आचरण करनेवालेसे भी अधिक अज्ञानको प्राप्त करता है।

पूर्वमें केवल निषिद्ध कर्मोंकी निवृत्तिसे और केवल विद्यासे अनर्थकी प्राप्ति कही गयी। अब मोक्षका साधन क्या है? ऐसी जिज्ञासा होनेपर कहा जाता है–

त्रयोदशो मन्त्रः

अन्यदेवाहुस्सम्भवात् अन्यदाहुरसम्भवात्।
इति शुश्रुम धीराणां ये नस्तद् व्याचचक्षिरे॥13॥

अर्थ

उपनिषदें मोक्षके साधनको **सम्भवात्**- केवल समाधिरूप सम्भूतिसे **अन्यदेव**- भिन्न ही **आहुः**- कहती हैं। **असम्भवात्**- केवल निषिद्धकी निवृत्तिरूप असम्भूति से **अन्यद्**- भिन्न **आहुः**- कहती हैं। **इति**- इस प्रकार हमने **धीराणाम्**- ब्रह्मवेत्ता पूर्वाचार्योंके वचनोंको सुना है। **ये**- जिन्होंने **नः**- हम सबको **तद्**- मोक्षके साधनका **व्याचचक्षिरे**[1]- उपदेश किया।

तेरहवें मन्त्रमें सम्भूति और असम्भूति से भिन्न मोक्ष का साधन कहा गया। वह मोक्षका साधन क्या है? ऐसी जिज्ञासा होनेपर कहते हैं–

चतुर्दशो मन्त्रः

सम्भूतिं च विनाशं च यस्तद् वेदोभयं सह।
विनाशेन मृत्युं तीर्त्वा सम्भूत्याऽमृतमश्नुते॥14॥

---

1. विचचक्षिरे इति पाठान्तरः।

अर्थ

यः- जो मुमुक्षु **सम्भूतिम्**- समाधिरूप ब्रह्मविद्या **च**- और **विनाशम्**- निषिद्धकी निवृत्ति(असम्भूति) **तद् उभयम्**- उन दोनोंको **सह**- अङ्गाङ्गिभावसे **वेद**- जानता है। वह **विनाशेन**- निषिद्धनिवृत्तिसे **मृत्युम्**- ब्रह्मविद्याके प्रतिबन्धक कर्मोंका **तीर्त्वा**- अतिक्रमण करके **सम्भूत्या**- विद्यासे **अमृतम्**- मोक्षको **अश्नुते**- प्राप्त करता है।

व्याख्या

9,10 और 11 वें मन्त्रों की 12,13 और 14 वें मन्त्रोंके साथ समानता है। दोनों स्थलोंपर एक-एकके अनुष्ठानकी निन्दा और एक-एकसे भिन्नको मोक्षका साधन कहा है तथा दोनों ही अनुष्ठेय कहे गये हैं। 14वें मन्त्रमें विनाशका अर्थ निषिद्धका अभावरूप असम्भूति है।

मोक्षका साधन संभूतिरूप विद्या

उपासनात्मिका ब्रह्मविद्या ही उच्च अवस्था वाली होनेपर समाधिरूप संभूति कही जाती है। इससे जीवनकालमें ही परमात्मसाक्षात्कार होता है। ऐसी समाधिकी सिद्धिके प्रतिबन्धक पापकी निवृत्तिके लिए समाधिके अङ्ग (हिंसा, स्तेय, मान और दम्भादिकी निवृत्तिरूप) असम्भूतिका आचरण करना चाहिए। इनके आचरणसे मृत्युतरण अर्थात् समाधिके प्रतिबन्धक पापोंकी निवृत्ति हो जाती है और निवृत्ति होनेपर सम्भूतिरूप समाधि सिद्ध होती है। इस प्रकार सम्भूति और असम्भूतिमें अङ्गाङ्गिभाव होता है। साङ्गसमाधि सिद्ध होनेपर उसी सम्भूतिरूप ब्रह्मविद्यासे मोक्ष प्राप्त होता है।

सम्भूतिका अङ्ग असम्भूति

हिंसादि निषिद्धकर्मके होनेपर कभी भी समाधि निष्पन्न नहीं हो सकती है, इसलिए मुमुक्षु हिंसादिरूप कर्मोंको पहले ही छोड़ देता है। इसके पश्चात् हिंसा, स्तेय, अभिमान, दम्भ आदिरूप जो इन्द्रियोंकी बहिर्मुख वृत्तियाँ होती हैं, उनका न होना ही विनाश या असम्भूति है। जैसे

नित्य, नैमित्तिक कर्म विद्याके अङ्ग हैं, वैसे ही निषिद्ध की निवृत्तिरूप असम्भूति भी विद्याका अङ्ग है।

शांकरमत- ईशावास्यके शांकरभाष्यमें 12,13 और 14वें मन्त्रोंका विवरण इस प्रकार है कि उत्पत्तिका वाचक सम्भूतिशब्द यहाँपर उत्पत्तिवाले हिरण्यगर्भका वाचक है, असम्भूति शब्द उससे भिन्न अव्यक्त प्रधानका वाचक है। लयका वाचक विनाश शब्द भी हिरण्यगर्भका वाचक है। चतुर्दश मन्त्रके आरम्भमें 'सम्भूतिम्' यहाँ अकारका प्रश्लेष करके 'असम्भूतिम्' पाठ माना है और चतुर्थ पादमें 'संभूत्या' के स्थानपर 'असम्भूत्या' ऐसी कल्पना की है। मृत्युतरणका ''हिरण्यगर्भकी उपासनासे अणिमादि ऐश्वर्योंको प्राप्त करके अनैश्वर्य निवारण'' अर्थ किया है और अमृतप्राप्तिका अर्थ प्रकृतिलय किया है। इन तीनों मन्त्रोंका भाष्य श्रुतहान और अश्रुतकल्पना दोषसे युक्त है तथा प्रकरणविरुद्ध भी है क्योंकि मुमुक्षुके लिए आरम्भकी गयी इस उपनिषद्में बुभुक्षुके प्राप्य फल और उसके साधनका प्रतिपादन नहीं हो सकता। 'ईशावास्यम्' यहाँ तृतीयान्त ईशा शब्दसे परब्रह्मकी स्वेतरसमस्तचेतनाचेतन जगत्से विलक्षणता और सर्वात्मकता आदिके प्रतिपादनसे उसकी सर्वोत्कृष्टताका निरूपण किया गया है और विद्याकी निष्पत्तिके लिए अपेक्षित उसके अङ्गभूत चित्तशुद्धिके साधन कर्मका निरूपण करके आगे अङ्गाङ्गिभावसे कर्म और विद्याके अनुष्ठानका प्रतिपादन किया गया है। 'अमृतमश्नुते' इस प्रकार अमृतपदसे मोक्षका प्रतिपादन, 'सम्भूत्या' पदसे मोक्षके साधनका प्रतिपादन और 'विनाशेन' पदसे मोक्षके साधनके उपकारकका प्रतिपादन किया गया है। ब्रह्मविद्याके प्रसङ्गमें अमृतपदका मोक्षसे भिन्न अर्थ, सम्भूतिपदका मोक्षके साधनसे भिन्न अर्थ और विनाश पदका मोक्षके साधनके उपकारकसे भिन्न अर्थ करना श्रुतहान(सुने गये अर्थका त्याग) दोष है। श्रुत अर्थसे भिन्न अर्थकी कल्पना अश्रुतकल्पना दोष है तथा मुमुक्षुका प्रकरण होनेसे पूर्वोत्तर ग्रन्थकी संगतिके बिना बुभुक्षुपरक अर्थ करना प्रकरणविरुद्ध है।

यह पूर्व में कहा जा चुका है कि 9, 10 और 11 वें मन्त्रकी 12, 13 और 14वें मन्त्रके साथ समानता है। 11वें मन्त्रमें अङ्गाङ्गिभावसे कर्म

और विद्याके अनुष्ठानका प्रतिपादन है। जैसे विद्याके अङ्ग विहित नित्यनैमित्तिक कर्म होते हैं, वैसे ही निषिद्धकी निवृत्ति भी विद्याका अङ्ग होती है। इसे समझानेके लिए 14वाँ मन्त्र है। 12वें मन्त्रमें केवल सम्भूति और केवल असम्भूतिके अनुष्ठानको अनर्थकारी बताया है, जो कि शांकरभाष्यके अनुसार संभव नहीं क्योंकि संभूति से प्राप्त अणिमादि ऐश्वर्य बुभुक्षुके लिए इष्ट ही होते हैं, अनिष्ट कदापि नहीं, अतः उनका अर्थ प्रकरणविरुद्ध है। सविशेषाद्वैत(विशिष्टाद्वैत) वेदान्तमतमें तो 14वें मन्त्रके अनुसार मृत्युतरण(प्रतिबन्धनिवृत्ति) पूर्वक मोक्ष प्राप्तिके लिए दोनों अनुष्ठेय हैं। अतः अलग-अलग अनुष्ठानसे अनिष्टफलका कथन उचित ही है किन्तु भगवत्पाद शंकरके अनुसार बुभुक्षुके लिए संभूति और असंभूति अलग-अलग अनुष्ठेय होनेपर अनर्थकारी नहीं हो सकते हैं। 13वें मन्त्रमें मोक्षका जो अन्य साधन कहा गया है, उसीका स्पष्टीकरण 14वें मन्त्रमें है। इसके शांकरभाष्यमें अणिमादि ऐश्वर्यकी प्राप्तिपूर्वक प्रकृतिलयरूप फल कहा है। वह भी ब्रह्मविद्याके प्रकरणसे विरुद्ध है। यदि कहना चाहें कि अलग-अलग दोनों अनर्थकारी होनेपर भी दोनोंका साथ अनुष्ठान करना चाहिए तो यह भी उचित नहीं क्योंकि इनका फल भी ब्रह्मविद्याके प्रकरणसे विरुद्ध ही है।

शांकरमत में सम्भूति और असम्भूतिका साथ-साथ अनुष्ठान असंभव

अणिमादि ऐश्वर्योंकी प्राप्ति तथा प्रकृतिलय ये दोनों फल परस्परविरुद्ध होनेसे दोनोंके साधन सम्भूति और असम्भूतिका साथ अनुष्ठान संभव नहीं है बल्कि पृथक्-पृथक् अनुष्ठान करनेपर क्रमसे ही दोनोंके फल संभव हैं, इसलिए उन दोनोंमें केवल सम्भूति और केवल असम्भूतिके अनिष्ट फलप्राप्तिके कथनसे निन्दापूर्वक दोनोंके साथ-साथ अनुष्ठानका विधान अंसगत होगा।

इस प्रकार साङ्गभक्तियोग का उपदेश करके भक्तियोगनिष्ठके लिए अनुसन्धेय मन्त्रद्वयका उपदेश किया जाता है। उनमें प्रथम सम्भूतिरूप विद्याके प्रतिबन्धकी निवृत्तिके लिए श्रीभगवान्से प्रार्थना की जाती है-

पञ्चदशो मन्त्रः

हिरण्मयेन पात्रेण सत्यस्यापिहितं मुखम्।
तत्त्वं पूषन्नपावृणु सत्यधर्माय दृष्टये॥15॥

अर्थ

सत्यस्य-जीवका **मुखम्**- मन **पात्रेण**- सम्भूतिरूप विद्याके प्रतिबन्धक **हिरण्मयेन**- सुवर्णके समान आकर्षक विषयभोगकी वासनाओंसे **अपिहितम्**- आच्छादित है। **पूषन्**- हे आदित्यके अन्तर्यामी **त्वम्**- तुम **सत्यधर्माय**- मुझ जीवात्मास्वरूपके स्वाभाविक धर्म **दृष्टये**- आप(ब्रह्म) का दर्शन करनेके लिए **तत्**- उस आवरण(आच्छादक) को **अपावृणु**- हटा दो।

व्याख्या

सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म(तै.उ. 2.1.1) इत्यादि श्रुतियोंमें ब्रह्मका वाचक सत्य शब्द प्रयुक्त होता है। **सत्यं चानृतं च सत्यमभवत्**(तै.उ.2.6.3) और **अथ नामधेयं सत्यस्य सत्यं प्राणा वै सत्यं तेषामेष सत्यम्**(बृ.उ.2.3.6) इत्यादि श्रुतियोंमें स्वरूपतः विकाररहित जीवात्माका भी वाचक सत्य शब्द प्रयुक्त है। प्रस्तुत ईशावास्य श्रुतिमें प्रसङ्गानुसार सत्य शब्द जीवका वाचक है। मुख के द्वारा भक्षण करने पर शरीर और अनेक इन्द्रियोंका पोषण होता है। मनके सक्रिय होनेपर अनेक इन्द्रियाँ स्वस्वकार्यमें प्रवृत्त होती हैं। जैसे पोषणके लिए इन्द्रियाँ मुखके आश्रित रहती हैं, वैसे ही स्वस्वकार्य सम्पन्न करनेके लिए चक्षु आदि इन्द्रियाँ मनके आश्रित रहती हैं, इस लिए मुखसदृश मन कहा जाता है। मुखके समान मन होनेसे श्रुतिमें मनके लिए मुख शब्द का प्रयोग है। जैसे सुवर्ण मनको आकर्षित करता है, वैसे ही कर्मानुसार प्राप्त होनेवाले शब्द, स्पर्श, रूप, रस और गन्ध ये विविध सांसारिक विषय भी मनको आकर्षित करते हैं। इन विषयोंके भोगसे जन्य वासनाएं (संस्कार) होती हैं। अनादि कालसे सञ्चित विषयभोगजन्य अनन्त वासनाएं ही सम्भूतिरूप विद्याकी प्रतिबन्धक हैं। ये मनको आच्छादित

किए रहती हैं, जिससे साधकका मन बार-बार बाह्य विषयोंमें प्रवृत्त होता है, इस कारण परमात्मविषयक भक्तियोग उत्पन्न नहीं होता। यहाँ **हिरण्मयेन[1] पात्रेण** का अर्थ प्रतिबन्धक रागात्मक रजोगुण भी होता है। **रजो रागात्मकं विद्धि**(गी. 14.7) इस प्रकार भगवद्गीतामें रजोगुणको रागात्मक कहा है, रागात्मक होनेसे उसे श्रुतिमें हिरण्मय(सुवर्णके सदृश) कहा है। रजोगुणके बोधक हिरण्मयको तमोगुणका भी उपलक्षण समझना चाहिए। ये सभी सम्भूतिरूप विद्याके प्रतिबन्धक हैं। इन प्रतिबन्धकों के निवृत्त होनेपर ही जीवनके महान् लक्ष्य मोक्षप्राप्तिके साधन ब्रह्मविद्याकी निष्पत्ति हो सकती है। अतः सर्वसमर्थ भगवान्से प्रतिबन्धककी निवृत्तिके लिए प्रार्थना की जाती है। सर्वव्यापक परमात्मा **सर्वस्य चाहं हृदि सन्निविष्टः**(गी. 15. 15) इस प्रकार हृदयमें भी स्थित है किन्तु प्रतिबन्धकके कारण उनका साक्षात्कार नहीं हो रहा है। 'पूषन' यह सम्बुद्धिका रूप है। लोकमें पूषन् शब्दका आदित्य अर्थ होता है। सब कुछ भगवान्का शरीर है, आदित्य भी भगवान्का शरीर है। जो आदित्यके अन्दर है, आदित्य जिसे नहीं जानता है, जिसका शरीर आदित्य है। जो अन्दर रहकर आदित्यका नियमन करता है–**य आदित्ये तिष्ठन्नादित्यादन्तरो यमादित्यो न वेद, यस्यादित्यश्शरीरम् य आदित्यमन्तरो यमयति।**(बृ.उ.3.7.13) इस प्रकार बृहदारण्यक श्रुति आदित्यमें निवास करनेवाले परमात्माको आदित्यका अन्तर्यामी तथा आदित्यको परमात्माका शरीर कहती है। **शास्त्रदृष्ट्या तूपदेशो वामदेववत्।**(ब्र.सू. 1.1.31) यह सूत्र भी इसी अर्थका प्रतिपादन करता है। इस प्रकार शरीरवाचक शब्द उसके अन्तरात्मा परमात्माके बोधक होते हैं। अतः मन्त्रमें आए पूषन् पदका अर्थ–आदित्यका अन्तरात्मा ब्रह्म। **साक्षादप्यविरोधं जैमिनिः**(ब्र.सू. 1.2.29) इस सूत्रके अनुसार पूषन् शब्द साक्षात् भी परमात्माका वाचक है। तब 'पूषन्' पद का अर्थ 'आश्रित भक्तोंका पोषण करने के स्वभाववाला' होता है। 'सत्यधर्म' शब्दसे जीवका स्वाभाविक धर्म कहा जाता है, वह धर्म क्या है? इस आकाङ्क्षाकी निवृत्तिके लिए

---

1. रागात्मकतया हिरण्मयसदृशेन रजोमयेन पात्रेण।

'दृष्टये' कहा है। 'हे पूषन्! आप मुझ जीवके स्वाभाविक धर्म अपने (ब्रह्मके) दर्शनके प्रतिबन्धकको हटा लीजिए' यह प्रार्थनाका स्वरूप है। परमात्माका दर्शन करना (परमात्मविषयक विद्या) जीवका स्वाभाविक धर्म है। इसमें उसका स्वतः सिद्ध अधिकार है। प्रतिबन्धक के कारण मलिन मन होनेसे दर्शन नहीं हो रहे हैं। उसके निवृत्त होनेपर निर्मल मनसे दर्शन होने लगते हैं। जैसे अग्निका स्वाभाविक धर्म दाहकत्व है किन्तु प्रतिबन्धक मणिमन्त्रादिके होनेपर वह दाह नहीं कर पाती है। प्रतिबन्धकके निवृत्त होते ही दाह करने लगती है, वैसे ही जीवका स्वाभाविक धर्म परमात्माका दर्शन करना है किन्तु प्रतिबन्धक वासना और रजोगुणके कारण वह दर्शन नहीं कर पाता है, प्रतिबन्धकके निवृत्त होते ही दर्शन करने लगता है। प्रतिबन्धककी निवृत्ति करुणावरुणालय, आश्रितजनोद्धारकर्ता सर्वसमर्थ श्रीभगवान्के अधीन है। आर्तभावसे की गयी प्रार्थनाको वे अवश्य स्वीकार करते हैं और प्रार्थना करनेवालेकी अभिलाषाको पूर्ण करते हैं। मुमुक्षु भक्तसे प्रार्थित भगवान् प्रतिबन्धकको हटा देते हैं।

उपर मनकी निर्मलताकी प्रार्थना की गयी, अब पुनः साक्षात्करणीय परमात्मस्वरूपका निरूपण करते हुए उनके दर्शनके साधन और दर्शनकी प्रार्थना की जाती है-

षोडशो मन्त्रः

पूषन्नेकर्षे यम सूर्य प्राजापत्य व्यूह रश्मीन् समूह तेजः।
यत्ते रूपं कल्याणतमं तत्ते पश्यामि योऽसावसौ पुरुषस्सोऽहमस्मि॥16॥

अर्थ

पूषन्- हे आश्रितजनपोषक **एकर्षे**- अतीन्द्रिय पदार्थोंके द्रष्टा अद्वितीय **यम**- सभीके नियामक **सूर्य**- भक्तजनोंकी बुद्धिके सम्यक् प्रेरक, **प्राजापत्य**- प्रजाके पति आप **रश्मीन्**- अपने दर्शनकी प्रतिबन्धक किरणोंको **व्यूह**- समेट लीजिए। **तेजः**- दर्शनके लिए उपयोगी सौम्य तेजको **समूह**-एकत्रित

कीजिए(जिससे) **ते**-आपका **यत्**-जो **कल्याणतमम्**-अत्यन्त मङ्गलकारक **रूपम्**-दिव्यमङ्गलविग्रहविशिष्टरूप है, **ते**-आपके **तत्**-उस रूपका **पश्यामि**[1]- दर्शन कर सकूँ। **यः**- जो **असौ असौ**[2]- यह **पुरुषः**- व्यापक परमात्मा है, **सः**- वही व्यापक परमात्मा **अहम्**- मैं **अस्मि**- हूँ।

अथवा **यः**-जो **असौ**- यह **पुरुषः**- व्यापक परमात्मा है, **सः**- वही **असौ**- यह **पुरुषः**- व्यापक परमात्मा **अहम्**- मैं **अस्मि**- हूँ।

व्याख्या

एकश्चासौ ऋषिः एकर्षिः। यहाँ एक का अर्थ है–अद्वितीय और ऋषिका अर्थ है- अतीन्द्रिय पदार्थोंका द्रष्टा अर्थात् सभी कालमें सभी प्रकारसे सबका साक्षात्कार करनेवाला। जो परमात्मा स्वरूपतः सबको जानता है और प्रकारतः सबको जानता है–**यः सर्वज्ञः सर्ववित्** (मु.उ. 1. 1.10) इस श्रुतिसे सर्वसाक्षात्कारी (सर्वज्ञ) परमात्मा कहे जाते हैं। चेतन और अचेतन सभीके अन्दर प्रवेश करके नियमन करनेवाले परमात्मा यम कहे जाते हैं। जो पृथ्वीके अन्दर रहकर नियमन करता है–**यः पृथ्वीमन्तरो यमयति**। (बृ.उ. 3.7.7), जो आत्माके अन्दर रहकर नियमन करता है– **य आत्मानमन्तरो यमयति**। (बृ.उ.मा.पा. 3.7.26) इत्यादि श्रुतियोंसे परमात्माका अन्दर प्रवेश करके नियमन करना सिद्ध है। भक्तजनोंकी बुद्धिको सन्मार्गमें प्रेरित करनेवाले परमात्माको सूर्य कहते हैं–**सुष्ठु ईरयति प्रेरयति भक्तजनानां धियम् इति सूर्यः**। प्रजाके पति परमात्माको प्रजापति कहते है और प्रजापति ही प्राजापत्य है–**प्रजानां पतिः प्रजापतिः प्रजापतिरेव प्राजापत्यः**[3]। परमात्मा सभीका पति है–**पतिं विश्वस्य**(तै.ना.उ. 92)। प्रजापति विष्णु सभीके हृदयमें विचरण करता है–**प्रजापतिश्चरति गर्भे अन्तः**। (तै.ना.उ.1) अथवा चतुर्मुख प्रजापतिकी संतानें प्राजापत्य हैं–

---

1. पश्येयमिति लिङ्गर्थो ग्राह्यः, लकारव्यत्ययश्छान्दसः, द्रष्टुमिच्छामि इति भावः। (ई.प्र.)
2. 'वीप्सा' अत्यादरव्यञ्जनार्था (वे.भा.)
3. अत्र स्वार्थे ष्यञ् प्रत्ययः।

प्रजापतिः चतुर्मुखः तस्य सुताः प्राजापत्याः। यहाँ मन्त्रमें प्रजापतिकी संतानोंके अन्तर्यामी परमात्माको प्राजापत्य कहा जाता है। हे प्रभो! आप अपने दिव्यरूपके दर्शनकी प्रतिबन्धक अनुपयोगी रश्मियोंको हटा दीजिए और दर्शनके लिए उपयोगी सौम्य रश्मियोंको इकट्ठा कीजिए। जिससे कि मैं आपके अत्यन्त कल्याणकारक, सौन्दर्यलावण्यादि गुणोंसे युक्त दिव्यमंगल-विग्रहविशिष्ट स्वरूपका दर्शन कर सकूँ। इस प्रकार परमात्मसाक्षात्कारके लिए उसकी प्रतिबन्धक रश्मियोंको हटानेके लिए प्रार्थना की जाती है—

परमात्माके दर्शनकी प्रार्थना

इस मन्त्रके द्वारा दिव्यमङ्गल-विग्रहविशिष्ट परमात्माके दर्शनकी प्रार्थनाकी गयी है क्योंकि यह ब्रह्मविद्याका प्रकरण है। मुमुक्षुके परमपुरुषार्थकी प्राप्तिके लिए कर्म, ज्ञान और भक्ति ये त्रिविध योग शास्त्रोंसे प्रतिपादित हैं। कर्मयोग द्वारा अन्तःकरण निर्मल होनेपर ज्ञानयोगका अधिकारी होता है। देहेन्द्रियमनप्राणबुद्धिभिन्नत्वेन ब्रह्मात्मक आत्माका अनुसन्धान करना ही ज्ञानयोग है। यह आत्मसाक्षात्कार द्वारा भक्तियोगमें हेतु होता है। मोक्षके साधनरूपसे स्वीकृत ब्रह्मविद्या भक्तियोग ही है। अपने विशुद्ध प्रत्यगात्मस्वरूपको मनका आश्रय बनाना दुष्कर है, इसलिए श्रीभगवान्‌के शुभाश्रय दिव्यमङ्गल विग्रहमें मनको लगाया जाता है। श्रीविग्रहके ध्यानसे पापराशि दग्ध होनेपर निर्मल हुआ मन अपने आत्मस्वरूपमें समाहित हो जाता है और इसके अभ्याससे देहादिसे भिन्न विशुद्ध ब्रह्मात्मक आत्माका साक्षात्कार होता है। जिस प्रकार वस्त्रमें परिवेष्टित मणिके प्रत्यक्ष (साक्षात्कार) के लिए वस्त्रका प्रत्यक्ष होना आवश्यक है, उसी प्रकार प्रत्यगात्मस्वरूपमें अन्तरात्मारूपसे विद्यमान परमात्माके प्रत्यक्षके लिए प्रत्यगात्मस्वरूपका प्रत्यक्ष आवश्यक है। ज्ञानयोग द्वारा प्रत्यगात्मस्वरूपका प्रत्यक्ष होनेपर भक्तियोग सहज प्रवहित होने लगता है और इसके द्वारा निखिलहेयप्रत्यनीक, अनन्तकल्याणगुणगण और दिव्यमङ्गलविग्रहसे विशिष्ट परमात्माका साक्षात्कार होता है। आत्मसाक्षात्कारके पूर्व दिव्यमङ्गलविग्रह ध्येय होता है और आत्मसाक्षात्कारके पश्चात् दिव्यमङ्गलविग्रहविशिष्ट सर्वात्मा परमात्मा ध्येय

होते हैं। यहाँ भक्तियोगात्मक ब्रह्मविद्याका प्रकरण है, अत: दिव्यमङ्गलविग्रहविशिष्ट परमात्माके दर्शनार्थ प्रार्थना की गयी है। इसके आगे **योऽसावसौ पुरुषः सोऽहमस्मि।** यह वाक्य है। इसमें 'य:' शब्दसे पूर्वमें वर्णित दिव्यमङ्गलविग्रहविशिष्ट व्यापक परमात्माका अपनी अन्तरात्मासे अभेद बताया है।

दिव्यमङ्गलविग्रह

परमात्माका श्रीविग्रह दिव्य(अप्राकृत) तथा मङ्गलकारक होनेसे दिव्यमङ्गलविग्रह कहलाता है और जो पदार्थ सुगमतासे चित्तका आश्रय बन सके तथा शुभ(मङ्गलकारक) भी हो, वह शुभाश्रय कहलाता है। ऐसा शुभाश्रय एकमात्र श्रीभगवान्‌का दिव्यमङ्गलविग्रह ही है। कान्तिमण्डलसे युक्त श्रीविग्रहसे प्रवाहरूपमें तेजोमयी रश्मियाँ निकलती रहती हैं। उन सौम्य रश्मियों के मध्यमें परमात्माके निखिलभुवनमोहक, कन्दर्पकोटिलावण्य-सौन्दर्यमय श्रीविग्रहके दर्शन होते हैं। जिस प्रकार मणिमयपात्र अपने अन्दर स्थित सुवर्ण और उसकी कान्तिका प्रकाशक ही होता है, आच्छादक नहीं होता, उसी प्रकार दिव्यमङ्गलविग्रह परमात्मस्वरूप और उनके गुणोंका प्रकाशक ही होता है, आच्छादक नहीं होता। यह सर्वाधिक तेजस्स्वरूप है, निरतिशय उज्जवलता, सुन्दरता, सुकुमारता, लावण्य, यौवन आदि दिव्य गुणोंका आश्रय है। हस्तपादादि अवयवोंकी शोभाको सुन्दरता कहते हैं और अवयवी समग्रशरीरकी शोभाको लावण्य कहते हैं। परमात्मा शरीररहित है–**अकायम्**(ई.उ. 8), परमात्मा हस्तपादसे रहित है–**अपाणिपादः** (श्वे. उ. 3.19) इत्यादि वचन भगवान्‌के श्रीविग्रहका निषेध करते हैं। कर्माधीन जन्म न लेनेवाला परमात्मा बहुत रूपोंमें अवतरित होता है–**अजायमानो बहुधा विजायते।** (य.सं. 31.19) आपका जो अत्यन्त कल्याणकारक दिव्यमङ्गल विग्रह है–**यत्ते रूपं कल्याणतमम्**(ई.उ.16)। आदित्यमण्डलके मध्यमें कमनीय कान्तिवाले, आकर्षक श्मश्रुवाले, नखसे लेकर शिरपर्यन्त आकर्षक अङ्गोंवाला पुरुष दिखायी देता है। वह गम्भीर जलसे उत्पन्न, पुष्टनालसे युक्त तथा सूर्यकी किरणोंसे विकसित कमलदलके समान

विशाल नेत्रोंवाला है–**अथ य एषोऽन्तरादित्ये हिरण्मयः पुरुषो दृश्यते, हिरण्यश्मश्रुः हिरण्यकेश आप्रणखात् सर्व एव सुवर्णः। तस्य यथा कप्यासं पुण्डरीकम् एवमक्षिणी।** (छां.उ. 1.6.6-7), परमात्माका श्रीविग्रह ऐसा है, जैसा कुसुम्भ से रंगा वस्त्र- **तस्य हैतस्य पुरुषस्य रूपं यथा महारजनं वासः।**(बृ.उ. 2.3.6) इत्यादि वचन श्रीविग्रहका प्रतिपादन करते हैं। निषेध करनेवाले वाक्य उत्सर्ग(सामान्य) वाक्य हैं और प्रतिपादन करनेवाले वाक्य अपवाद(विशेष) वाक्य हैं। अतः उत्सर्गापवाद न्यायसे उत्सर्गवाक्य कर्मजन्य हेयशरीरका निषेध करते हैं और अपवाद वाक्य अप्राकृत शरीर(दिव्यमङ्गलविग्रह)का प्रतिपादन करते हैं। परब्रह्मका दिव्यमङ्गलविग्रह शुद्धसत्त्वमय है।

अन्तरात्मासे परमात्माका अभेद

अब दर्शनके लिए प्रार्थनीय परमात्माका अपनी अन्तरात्मासे अभेद कहा जाता है–**योऽसावसौ पुरुषः सोऽहमस्मि** यहाँ अत्यन्त आदरकी अभिव्यक्ति के लिए **असावसौ** इस प्रकार दो बार कथन किया गया है अथवा **योऽसौ पुरुषः सोऽसौ अहमस्मि** इस प्रकार अन्वय होताहै। **सोऽहमस्मि** इस वाक्यमें सः शब्द पूर्वमें प्रतिपादित अनन्त कल्याणगुणगण तथा दिव्यमङ्गलविग्रहविशिष्ट व्यापक परमात्माका बोधक है और अहं शब्द भी जीवात्माका बोधक होते हुए उसकी अन्तरात्माका बोधक है। जिस प्रकार गुणवाचक शुक्लादि शब्द शुक्लत्वादि गुणोंका बोध कराते हुए उनके आश्रय द्रव्यका बोध कराते हैं तथा जातिवाचक गो आदि शब्द गोत्वादि जातिका बोध कराते हुए उनके आश्रय गो आदि व्यक्तिका बोध कराते हैं, उसी प्रकार जीवात्माका वाचक अहम् शब्द जीवात्माका बोध कराते हुए उसके आश्रय अन्तरात्मा परमात्माका बोध कराता है। **यस्य आत्मा शरीरम्** (बृ.उ.मा.पा. 3.7.26) इत्यादि श्रुतियों के अनुसार चेतन जीवात्मा परमात्माका शरीर है। शरीरी परमात्मा इसका आत्मा है। यह चेतन शरीर परमात्मा का प्रकार(विशेषण) होता है और परमात्मा प्रधान(विशेष्य) होता है, इसलिए 'सोऽहमस्मि' इस सामानाधिकरण्य श्रुतिमें आये सः

शब्दके अर्थ और अहम् शब्दके अर्थमें अभेद बतानेवाले 'सः' और 'अहम्' पदोंके द्वारा वह अन्तरात्मा ब्रह्म ही कहा जाता है, जो जीवात्मारूप शरीरको धारण करनेवाला उसका आश्रय विशेष्य होता है। इस प्रकार **सोऽहमस्मि** इस वाक्यमें 'सः' और 'अहम्' पदोंका मुख्य सामानाधिकरण्य संभव होता है। जिसके दर्शनकी प्रार्थनाकी जा रही है, वह महान् परमात्मा प्रार्थनाकर्ता मुमुक्षुके अन्तरात्मासे अभिन्न है। इस प्रकार व्यापक परमात्माका अपने अन्तरात्मासे अभिन्नरूपमें अनुसन्धान किया जाता है। परब्रह्म अनुसन्धान करने वाले चेतन जीव का अन्तरात्मा है। इस लिए अनुसन्धान करने वाले 'अहम्' इस प्रकार ब्रह्म का उल्लेख करके अनुसन्धान करते हैं और शास्त्र भी इसी अर्थ का बोध कराते हैं- **आत्मेति तूपगच्छन्ति ग्राहयन्ति च**(ब्र.सू. 4.1.3)। जैसे प्रत्यगात्मा अपने शरीर का आत्मा है, इस लिए 'देवोऽहम्', 'मनुष्योऽहम्' इस प्रकार उस(प्रत्यगात्मा)का अनुसन्धान किया जाता है। वैसे ही परमात्मा प्रत्यगात्मा का भी आत्मा है, इस लिए उस(परमात्मा)का भी 'अहम्' इस प्रकार ही अनुसन्धान करना उचित है।

शंका-अस्मद् शब्दका जीवात्ममात्र अर्थ होनेपर **सोऽहमस्मि** इस वाक्यमें **अस्मद्युत्तमः**(अ.सू. 1.4.107) इस सूत्रसे 'अस्मद्' उपपदके योगमें उत्तम पुरुष होता है, इसलिए धात्वर्थाश्रयवाचक (अस् धातुके अर्थ सत्ताके आश्रय अस्मद् अर्थका वाचक) 'अस्मि' यह उत्तमपुरुष जीवात्ममात्रका वाचक होता है। यदि अहम् पदसे अस्मद् अर्थ जीवके अन्तरात्मा परमात्माको ग्रहण करेंगे तो 'अहम्' पदके साथ 'अस्मि' इस उत्तमपुरुषका अन्वय कैसे होगा?

समाधान-यहाँ 'अस्मि' पद भी जीवात्माके अन्तरात्मा परमात्माका वाचक है, इस प्रकार 'अहम्' और 'अस्मि' ये दोनों पद परमात्माके वाचक होते हैं, इसलिए 'अहम्' पदके साथ 'अस्मि' इस उत्तमपुरुषका अन्वय होता है।

शंका-यदि 'अहम्' शब्दका अर्थ जीवात्ममात्र न होकर जीवात्माका अन्तरात्मा ब्रह्म है, तो यहाँ उत्तमपुरुष नहीं होना चाहिए बल्कि **शेषे प्रथमः**(अ.सू.1.4.108) सूत्रसे प्रथम पुरुष ही होना चाहिए।

समाधान–यहाँ पर उत्तमपुरुष विधायक **अस्मद्युत्तमः**(अ.सू. 1.4. 107) सूत्रकी प्रवृत्ति होती है। उद्देश्यविषयक 'अस्मद्' शब्द उपपद होनेपर उत्तमपुरुष होता है, यह सूत्रका अर्थ है। जीवात्ममात्रका वाचक अस्मद् शब्द उपपद हो, ऐसा सूत्रको अपेक्षित नहीं है किन्तु 'अस्मद्' शब्दका उपपदमात्र होना अपेक्षित है। जीवात्मा द्वारा उसके अन्तरात्मा परमात्माका बोधक अस्मद् शब्द होनेपर उत्तमपुरुषकी निवृत्तिको सूत्र नहीं कहता है। जब 'अहम्' पद जीवके अन्तरात्मा परमात्माका बोधक होता है, तब 'अस्मि' पद भी उसीका बोधक होता है। धात्वर्थका युस्मदर्थ उद्देश्य होनेपर मध्यम पुरुष और अस्मदर्थ उद्देश्य होनेपर उत्तम पुरुष होता है। इन दोनोंसे भिन्न उद्देश्य होनेपर प्रथम पुरुष होता है। ऐसा स्वीकार करनेपर संगति हो जाती है। यहाँ अस्मदर्थ उद्देश्य है, इसलिए अस्मद् पद उपपद होनेपर उत्तम पुरुष ही होता है, प्रथम पुरुष नहीं होता। यद्यपि मेरा अन्तरात्मा- 'मदन्तर्यामी' इस प्रकार शब्दान्तरसे उपस्थापित जीवात्माके अन्तरात्मामें उत्तम पुरुषका अन्वय संभव नहीं है, तथापि 'अहम्' इस प्रकार अस्मद् शब्दसे उपस्थापित जीवात्माके अन्तरात्मामें उत्तम पुरुषका अन्वय संभव होता है।

शांकरमतमें उत्तम पुरुषकी असिद्धि

शांकरमतमें 'सोऽहमस्मि' इस वाक्यमें पठित 'सः' और 'अहम्' ये दोनों पद अपने शक्यार्थका त्यागकर लक्ष्यार्थ निर्विशेष चिन्मात्रका बोध कराते हैं, इस प्रकार 'अहम्' पदके वाच्यार्थका त्याग होनेके कारण 'अस्मि' पदसे अनुसंधान करनेवाला कोई रहता ही नहीं, इस कारण इस मत में उत्तम पुरुषकी सिद्धि नहीं हो सकती है।

शंका–अस्मदर्थकी अविवक्षा होने पर भी अस्मद् शब्दके उपपदमात्रसे हमारे मतमें भी उत्तमपुरुष सिद्ध हो जाता है, अतः आपका उक्त कथन उचित नहीं है।

समाधान–ऐसी शंका करना उचित नहीं है क्योंकि आप लक्षणा का आश्रय लेकर 'सोऽहमस्मि' का अर्थ करते हैं और हम लक्षणाके बिना ही

इसका अर्थ करते हैं। आपके मतमें लक्षणा करनेपर शब्दके प्रवृत्तिनिमित्तका त्याग होता है और हमारे मत में लक्षणा न करनेसे प्रवृत्तिनिमित्तका त्याग नहीं होता। लक्षणावाला पक्ष अत्यन्त जघन्य होता है, इसलिए मुख्यवृत्तिसे अर्थ करनेवाले हमारे मतका अनुसरण करना उचित है। 'सोऽहमस्मि' इत्यादि स्थलोंमें तात्पर्यानुपपत्तिरूप लक्षणाका बीज संभव न होनेसे लक्षणाकी आवश्यकता नहीं है। इसकी जानकारी के लिए 'विशिष्टाद्वैत वेदान्तका विस्तृत विवेचन' ग्रन्थ के 'तत्त्वमसि' विषयको पढ़ना चाहिए।

द्वैतमत

वक्ता और श्रोता दोनों राजाके अधीन होनेपर उपचारकी विवक्षासे जैसे तुम राजा हो–'त्वं राजासि', मैं राजा हूँ–'अहम् राजास्मि' इत्यादि वाक्योंमें मध्यम पुरुष, उत्तम पुरुष और सामानाधिकरण्यकी व्यवस्था संभव होती है। वैसे ही जीव ब्रह्मके अधीन होनेके कारण उपचारकी विवक्षासे **सोऽहमस्मि** (ई.उ. 16) और **तत्त्वमसि**(छां.उ. 6.8.7) इत्यादि वाक्योंमें मध्यम पुरुष, उत्तम पुरुष और सामानाधिकरण्यकी व्यवस्था संभव होगी, अतः शरीरबोधक पदको शरीरी आत्माका बोधक मानकर अर्थ करना उचित नहीं है।

विशिष्टाद्वैत मत

ऊपर उद्धृत वैदिक वाक्योंको औपचारिक अर्थका बोधक मानना उचित नहीं है क्योंकि मुख्यार्थ संभव न होनेपर ही औपचारिक अर्थकी विवक्षा होती है। यहाँ मुख्यार्थसे ही उत्तम पुरुष और मध्यम पुरुषकी व्यवस्था संभव होती है तथा मुख्यार्थ से ही सामानाधिकरण्य वाक्यके द्वारा किये गये अभेद निर्देशका निर्वाह हो जाता है।

उक्त वैदिक सामानाधिकरण वाक्योंमें विशिष्टाद्वैतवेदान्ती किसी पदकी लक्षणा नहीं करते हैं, द्वैतवादी एक पदकी लक्षणा करते हैं और शांकरमतावलम्बी उभयपद की लक्षणा करते हैं। यहाँ उभय पदमें लक्षणा स्वीकार करनेवाले शांकरमतकी अपेक्षा एक पदकी लक्षणा स्वीकार

करनेवाला द्वैतमत श्रेष्ठ है किन्तु किसी भी पदकी लक्षणा स्वीकार न करनेवाला विशिष्टाद्वैत मत सर्वश्रेष्ठ है।

पुरुष शब्द परमात्माका बोधक

प्रकृति और पुरुष दोनोंको भी अनादि ही जानो–**प्रकृतिं पुरुषं चैव विद्ध्यनादी उभावपि।**(गी. 13.19), भगवान् अचेतन प्रकृति और चेतन जीवके ईश्वर हैं–**प्रधान पुरुषेश्वरः**(वि.स.ना. 16) इत्यादि वाक्योंमें जीवके वाचक पुरुष शब्दका प्रयोग है किन्तु उस परमात्मा के द्वारा यह सम्पूर्ण जगत् व्याप्त है–**तेनेदं पूर्णं पुरुषेण सर्वम्**(मु.उ. 1.1.7), (श्वे. उ.9)। मैं परमात्मा पूर्वकालसे ही यहाँ विद्यमान था इसलिए उस परमात्माका पुरुषत्व है–**पूर्वमेवाहमिहासमिति तत्पुरुषस्य पुरुषत्वम्।** (तै.आ. 1.23) यह महान् समर्थ परमात्मा ही मोक्षजनक ज्ञानके हेतु सत्त्वगुणका प्रवर्तक है–**महान् प्रभुर्वै पुरुषस्सत्त्वस्यैष प्रवर्तकः** (श्वे.उ. 3.12) इत्यादि श्रुतियोंमें पूर्णत्व, पूर्वसत्त्व और सत्त्वप्रवर्तकत्वादि गुणवाले तथा सभी वेदोंमें पठित पुरुषसूक्तादिमें प्रसिद्ध परमात्मा ही ब्रह्मविद्याका प्रकरण होनेसे ईशावास्य की 16वीं श्रुतिमें पुरुष शब्दसे कहे जाते हैं।

इस प्रकार परावर तत्त्व, परम निःश्रेयसका साधन साङ्गभक्तियोग और भक्तियोगनिष्ठके लिए अनुसंधेय मन्त्रद्वयका उपदेश करके अब परम पुरुषार्थकी प्राप्तिके लिए भगवदनुग्रह की प्रार्थना की जाती है–

सप्तदशो मन्त्रः

वायुरनिलममृतमथेदं भस्मान्तं शरीरम्।
ओं क्रतो स्मर कृतं स्मर क्रतो स्मर कृतं स्मर॥ 17॥

अर्थ

अमृतम्– मृत्युरहित जीवात्मा **वायुः**– गमन करनेवाला और **अनिलम्**– एक स्थान पर न रहनेवाला है। **अथ**– जीवात्माके शरीरसे उत्क्रमणके पश्चात् **इदम्**– यह **शरीरम्**– शरीर **भस्मान्तम्**– अन्तमें भस्म हो जाता है।

अचेतन शरीर और चेतन जीवात्मा इन दोनोंका आत्मा **ओम्**- परमात्मा है। **क्रतो**- हे भक्तियोगसे आराध्य परमात्मन्! मेरा **स्मर**- स्मरण करो और मेरे **कृतम्**- किये हुए का **स्मर**-स्मरण करो। **क्रतो**- हे भक्तियोगसे आराध्य परमात्मन्! मेरा **स्मर**- स्मरण करो और मेरे **कृतम्**- किये हुएका **स्मर**-स्मरण करो।

व्याख्या

जीव काम्य उपासना और कर्मके अनुसार श्रीभगवान् के संकल्प से एक शरीर से दूसरे शरीर में और एक लोक से दूसरे लोक में जाता है, इसलिए वायु कहलाता है– **विद्याकर्मानुगुण-भगवत्संकल्पवशेन सर्वत्र वाति गच्छति इति वायुः।** इस प्रकार 'वा गतिगन्धनयोः' धातुसे निष्पन्न वायु शब्द यहाँ पर गमनकर्ता जीवका बोधक है। गमनकर्ताके वाचक वायु शब्दसे प्रत्यगात्माका अणु परिमाण सिद्ध होता है, इसलिए इसकी परमात्मासे विलक्षणता भी सिद्ध होती है। जिसमें स्थिर रहा जाता है, उसे निल कहते हैं-**यत्र निलीयते स्थिरं स्थीयते तद् निलम्** इस व्युत्पत्तिके अनुसार निलम् का अर्थ है–स्थायी निवासस्थान। इससे रहित होनेके कारण जीवको अनिल कहते हैं अथवा एक नियत स्थान पर निवास करता है-**निलीयते एकत्र निवसतीति निलम्** इस व्युत्पत्तिके अनुसार निलका अर्थ है–एक स्थानमें निवास करने वाला। जीव एक स्थानमें निवास करने वाला नहीं है इसलिए उसे अनिल कहते हैं। कर्मानुसार उत्तरोत्तर प्राप्त होनेवाले शरीरोंकी मृत्यु(विनाश) होनेपर भी जीवात्मा अमृत है। यहाँ अमृतका अर्थ है-स्वरूपतः और धर्मतः विनाशसे रहित। ज्ञाताके ज्ञानका लोप नहीं होता है क्योंकि ज्ञाता आत्मा अविनाशी है–**नहि विज्ञातुर्विज्ञातेर्विपरिलोपो विद्यते अविनाशित्वात्।** (बृ.उ.. 4.3.30) अरे! यह आत्मा अविनाशी है–इसका धर्मभूतज्ञान भी अविनाशी है–**अविनाशी वाऽरे अयमात्माऽनुच्छित्तिधर्मा** (बृ.उ. 4.5.14)। जिसका उच्छित्ति अर्थात् विनाश नहीं होता है, उसे अनुच्छित्ति या नित्य कहते हैं– 'न विद्यते उच्छित्तिः विनाशो यस्य सः अनुच्छित्ति नित्य इत्यर्थः।' अनुच्छित्ति धर्म जिसका है, उसे अनुच्छित्तिधर्मा कहते हैं- 'अनुच्छित्तिः धर्मो यस्य असौ अनुच्छित्तिधर्मा' इस प्रकार

बहुव्रीहि समास करनेपर अनुच्छित्तिधर्माका अर्थ नित्य धर्मभूत ज्ञानका आश्रय होता है। स्वयंप्रकाश ज्ञानस्वरूप आत्माका धर्मभूत ज्ञान भी नित्य है। उसका इन्द्रियद्वारा नाना विषयोंके साथ सम्बन्ध होनेपर धर्मभूत ज्ञान ही तत्तद् विषयोंका ज्ञान कहा जाता है- **तदेवं चित्स्वभावस्य[1] पुंसः स्वाभाविकी चितिः[2]। नानापदार्थ संसर्गात्तत्तद्वित्तित्वमश्नुते॥** (सि.त्र. 1.23) उक्त ईशावास्य श्रुतिमें आया अमृतपद आत्मस्वरूप और उसके धर्मभूतज्ञान दोनोंके अविनाशित्वका बोधक है। यह(अमृतपद) छान्दोग्योपनिषत् के अन्तर्गत प्रजापतिवाक्यमें सुने गये अपहतपाप्मत्वादिका भी उपलक्षण है। यह आत्मा पापरहित, जरारहित, मृत्युरहित, शोकरहित, क्षुधारहित, पिपासारहित, सत्यकाम और सत्यसंकल्प है–**य आत्माऽपहतपाप्मा विजरो विमृत्युर्विशोको विजिघत्सोऽपिपासः सत्यकामः सत्यसंकल्पः।**(छां.उ. 8.7.1) श्रुतिके उपक्रममें 'वायु' यह पुल्लिङ्ग पद है, अतः 'अनिलममृतम्' इन दोनों पदोंका पुल्लिङ्गत्वेन विपरिणाम(परिवर्तन) कर लेना चाहिए।

शंका–अथामूर्तं वायुश्चान्तरिक्षञ्च एतदमृतम्(बृ.उ.2.3.3) इस श्रुतिमें वायुको अमृत कहे जानेसे प्रकृत ईशावास्य श्रुतिमें भी वायु और अनिल शब्दोंसे पञ्चभूतोंके अन्तर्गत आनेवाली वायुको ग्रहण करना चाहिए, इनका जीवात्मपरक अर्थ नहीं करना चाहिए।

समाधान–यह शंका उचित नहीं है क्योंकि ऐसा माननेपर पूर्वापर संगति नहीं होती है। यहाँ पूर्व और उत्तरमें कहीं भी भौतिक वायु का प्रसङ्ग नहीं है। पूर्वमें श्रीभगवान् के दर्शनकी प्रार्थना की गयी है, उनसे जीवात्मस्वरूपके अन्तरात्माका अभेद बताया है और आगे भी वायु भूतका कोई प्रसङ्ग नहीं है, अतः वायु और अनिल शब्दोंको जीवात्माका बोधक मानना ही उचित है, वह अमृत ही है। बृहदारण्यक श्रुतिमें कहा गया वायु और आकाशका अमृतत्व औपचारिक है। यहाँ प्रस्तुत जीवात्माका अमृतत्व मुख्य है।

---

1. चित्स्वभावस्य स्वयंप्रकाशस्वरूपस्य (सि.)
2. चितिः धर्मभूतज्ञानम् (सि.)

यद्यपि वायु आदि शब्द अपर्यवसान वृत्ति[1] से वायु आदि अर्थोंका बोध कराते हुए परमात्माका भी बोध करा सकते हैं तथापि आगे नश्वर शरीरका प्रतिपादन होनेसे इन शब्दोंको उससे भिन्न जीवात्माका बोधक मानना ही उचित है। प्रकृतिको क्षर कहा जाता है और अविनाशी भोक्ताको अक्षर कहा जाता है। क्षर-अचेतन प्रकृति और अक्षर-चेतन जीवात्मा पर एक ईश्वर शासन करता है- **क्षरं प्रधानममृताक्षरं हरः[2] क्षरात्मानावीशते देव एकः**।(श्वे.उ. 1.10) विनाशी अचेतन पदार्थको अविद्या कहा जाता है और अविनाशी चेतनको विद्या कहा जाता है। जो चेतन और अचेतन पर शासन करता है, वह इन दोनों से अन्य है-**क्षरं त्वविद्या ह्यमृतं तु विद्या विद्याविद्ये ईशते यस्तु सोऽन्यः**।(श्वे.उ. 5.1) इस प्रकार श्वेताश्वतरोपनिषत् के अन्तर्गत भोग्य प्रकृति, भोक्ता जीव और नियन्ता ईश्वररूप तत्त्वत्रयके विवेचनमें अमृतशब्दसे प्रत्यगात्मा कहा गया है, इसलिए यहाँ ईशावास्यमन्त्रमें भी अमृत शब्दको जीवात्माका बोधक मानना ही उचित है।[3]

कुछ विद्वान् वायु शब्दका प्राण अर्थ करके, 'मेरे प्राण अमृत अनिल(सूत्रात्मा) में लीन हो जाएं' ऐसा **वायुरनिलममृतम्** का अर्थ करते हैं। वह उचित नहीं क्योंकि जीवका शरीरसे उत्क्रमण होनेपर प्राण उत्क्रमण करते हैं-**तमुत्क्रामन्तं प्राणोऽनूत्क्रामति**।(बृ.उ. 4.4.2) इस प्रकार जीवका उत्क्रमण होनेपर इन्द्रियोंके समान प्राणोंका भी उत्क्रमण और साथ जाना सुना जाता है, अतः प्राणका वायुमें लय असंभव है। यदि ऐसा कहना चाहें कि अन्यके प्राणका लय न होनेपर अर्चिरादि मार्गसे जानेवालेके प्राणका लय कहा गया है तो यह भी उचित नहीं क्योंकि विरजाप्राप्तिपर्यन्त उसका

---

1. पर्यवसानरहिता शक्तिः। जिस वृत्तिसे शरीरवाचक शब्द शरीरी परमात्मा पर्यन्त अर्थ का बोध कराते हैं, वह शब्द की शक्ति वृत्ति अपर्यवसान वृत्ति कही जाती है।
2. भोग्यान् पदार्थान् स्वभोगार्थं हरतीति हरः जीवः(आ.भा.)।
3. इस मन्त्र के पूर्वार्ध का इस प्रकार भी अर्थ होता है-
   अनिलम्- शरीरमें संचरण करने वाला **वायुः**- प्राण है, इससे सम्बन्ध रखने वाला जीवात्मा **अमृतम्**- मृत्यु रहित है।

भी लय प्राप्त नहीं है, यदि विरजाप्राप्तिके अनन्तर ही लय हो तो यह कथन भी उचित नहीं क्योंकि उस समय प्राणका वायुमें लय होता ही है, अतः उसके लिए प्रार्थना संभव नहीं। इसलिए उक्त प्रार्थनापरक व्याख्या संभव नहीं। इस कारण 'अनिलममृतम्' इन पदोंका पुल्लिङ्गत्वेन विपरिणाम करके इनको जीवात्माका बोधक मानना ही उचित है।

वायुरनिलममृतम् इस प्रकार जीवात्मस्वरूपका निरूपण करके उसके कर्माधीन भौतिक दृश्य शरीरका **अथेदं भस्मान्तं शरीरम्** इस प्रकार वर्णन किया जाता है। जीवात्माके उत्क्रमणके पश्चात् दाह संस्कार करनेपर यह शरीर भस्म हो जाता है। जिसका अन्त अर्थात् परिणाम भस्म होता है, उस शरीरको भस्मान्त कहते हैं–**भस्म अन्तः परिणामो यस्य तद् भस्मान्तं शरीरम्।** भस्मान्त पद मलान्त आदि का उपलक्षण है। सिंहादिके द्वारा शरीरका भक्षण करनेपर वह मल(विष्ठा) हो जाता है और भूमिगत कर देनेपर मिट्टी बन जाता है। पूर्वमें 'ज्ञाता आत्मा जन्म नहीं लेती है और मरती भी नहीं'–**न जायते म्रियते वा विपश्चित्।**(क.उ. 1.2.18) इत्यादि श्रुतियोंमें प्रसिद्ध प्रत्यगात्माके अमृतत्वको कहा था। अब उससे विपरीत 'अथेदं भस्मान्तं शरीरम्' इस प्रकार शरीरका अवश्यम्भावी मृतत्व कहा गया।

यहाँ आत्मा और शरीरके अमृतत्व और मृतत्वरूप विरुद्ध धर्मोंके प्रतिपादनसे देह और आत्माके भेदका समर्थन होता है। इससे 'अपथ्यपरिहार और रसायन औषध आदिके सेवनसे हमारा शरीर नित्य हो सकता है, इस सन्देहकी भी निवृत्ति होकर अपनी देहसे भी वैराग्य होता है। विनाशका हेतु होनेपर वह शीघ्र विनष्ट हो जाता है, अतः मोक्षके उपाय में शीघ्रतासे प्रवृत्त होना चाहिए।

पुनः जो तीन मात्रा वाले प्लुत 'ओम्' इस अक्षरसे ही परम पुरुषका ध्यान करता है–**य पुनरेतं त्रिमात्रेणोमित्येतेनैवाक्षरेण परं पुरुषमभिध्यायीत।** (प्र.उ. 5.5) सभी वेद जिस प्राप्य ब्रह्मका वर्णन करते हैं, जिसकी प्राप्तिके लिए सभी तपोंको कहते हैं और जिसकी प्राप्तिकी इच्छासे मुमुक्षुजन ब्रह्मचर्यका आचरण करते हैं, उसे संक्षेपमें 'ओम्' यह अक्षर

कहता हूँ- **सर्वे वेदा यत्पदमामनन्ति तपांसि सर्वाणि च यद् वदन्ति। यदिच्छन्तो ब्रह्मचर्यं चरन्ति तत्ते पदं संग्रहेण ब्रवीमि ओमित्येतत्** (क. उ.1.2.15)। परमात्माका नाम ओम् है- **तस्य वाचकः प्रणवः**।(पा.यो.सू. 1.27), 'ओम्' इस एकाक्षर नामका उच्चारण करते हुए और मुझ नामीका स्मरण करते हुए-**ओमित्येकाक्षरं ब्रह्म व्याहरन् मामनुस्मरन्** (गी.8.13) इत्यादि शास्त्रवचन 'ओम्' शब्दसे परमात्माका प्रतिपादन करते हैं।

ऊपर 'वायुरनिलममृतम्' से चेतन प्रत्यागात्माका, अथेदं भस्मान्तं शरीरम् से देहका और ओम् शब्दसे परमात्माका प्रतिपादन किया गया। अब ब्रह्मविद्याके विषय परमात्माको सम्बोधित करके उनके अनुग्रहकी प्रार्थना की जा रही है-**ॐ क्रतो स्मर कृतं स्मर।** मनुष्य इस लोकमें जिस फलको उद्‌देश्य करके उपासना करनेवाला होता है, वह मरकर यहाँसे अन्य लोकमें जाकर उसी फलको प्राप्त करता है, इसकारण मुमुक्षु उपासक ब्रह्मकी उपासना करे-**यथा क्रतुरस्मिन् लोके पुरुषो भवति, तथेत प्रेत्य भवति। स क्रतुं कुर्वीत।** (छां.उ.3.14.1) यहाँ पर क्रतु शब्द भक्तियोग अर्थमें है और यह शब्द भक्तियोगसे आराध्य परमात्माको उपचारसे कहता है। इसलिए 'क्रतो'- हे भक्तियोगसे आराध्य परमात्मन्! आप मुझे कृपादृष्टिसे देखिए। वराह पुराणमें कहा है- कफ, वात, पित्त इन तीन धातुओंकी समतामें स्थित शरीर सुस्वस्थ होने पर और मन स्थिर होने पर जो मनुष्य अजन्मा और विश्वरूपधारी मेरा स्मरण करता है। इसके पश्चात् मरते हुए काष्ठ और पाषाणके समान अचेत पड़े हुए अपने भक्तका मैं स्मरण करता हूँ अर्थात् कृपादृष्टिसे देखता हूँ और परमगति पर पहुँचाता हूँ-**स्थिते मनसि सुस्वस्थे शरीरे सति यो नरः। धातुसाम्ये स्थिते स्मर्त्ता विश्वरूपं च मामजम्। ततस्तं म्रियमाणं तु काष्ठपाषाणसन्निभम्। अहं स्मरामि मद्भक्तं नयामि परमां गतिम्।।** (व.पु), महाभारतमें कहा है-जन्ममृत्युके चक्रमें पड़े हुए जिस मनुष्यको भगवान् मधुसूदन अपनी कृपादृष्टिसे देख लेते हैं, उसे सात्त्विक जानना चाहिए और वह मोक्षका सुनिश्चित अधिकारी हो जाता है-**जायमानं हिं पुरुषं यं पश्येन्मधुसूदनः। सात्त्विकस्तु स विज्ञेयो भवेन्मोक्षे च निश्चितः।।** (म.भा.शां.348.73) भक्तियोगकी निष्पत्तिके

बिना भगवान् परमपदकी प्राप्ति कैसे कराते हैं? इस शंकाके उत्तरके लिए **कृतं स्मर** कहा गया है। हे प्रभो! मैंने आपकी प्रसन्नताके लिए आपकी विभूतिभूत जगत्की सेवा, हरिभक्तोंकी सेवा, नवधा भक्ति, त्वदात्मक (ब्रह्मात्मक) आत्मस्वरूपका अनुसंधान और आपकी आराधना अर्थात् कर्मयोगसे लेकर भक्तियोग पर्यन्त आपके अनुकूल जो भी कार्य किये हैं, कृपया उनका स्मरण कीजिए। मैं सर्वथा असमर्थ हूँ, स्वयं कुछ भी नहीं कर सकता। मेरा किया हुआ कहा जानेवाला जो भी आपके अनुकूल कार्य अभी तक हुआ है, वह सब आपने ही किया है। कृपया आप उसका स्मरण कीजिए और उसमें जो भी अपूर्णता हो, हे दयामय! उसे आप ही पूर्ण कर दीजिए। इस प्रकार की गयी प्रार्थनाके द्वारा भगवदनुग्रहसे परमपदकी प्राप्ति होती है। श्रीरामचन्द्र जिस किसी प्रकार किये गये एक उपकार(सेवा)से भी सदा सन्तुष्ट रहते हैं और मनको वशमें रखनेके कारण दूसरे के द्वारा किए गये सैकड़ों अपराधोंका भी स्मरण नहीं करते— **कथञ्चिदुपकारेण**[1] **कृतेनैकेन तुष्यति। न स्मरत्यपकाराणां शतमप्यात्मवत्तया॥** (वा.रा. 2.1.11) श्रीभगवान्का ऐसा लोकोत्तर स्वभाव होनेके कारण उनसे प्रार्थनाकी जा रही है और प्रार्थनीय वस्तुकी प्राप्तिमें अत्यन्त शीघ्रता होनेसे मन्त्रमें **क्रतो स्मर कृतं स्मर** इसकी आवृत्ति हुई है।

पुनः श्रीभगवान्से मोक्षप्राप्तिके लिए पापनिवृत्ति और अर्चिरादिमार्गसे गमनकी प्रार्थनाकी जाती है–

अष्टादशो मन्त्रः

अग्ने नय सुपथा राये अस्मान् विश्वानि देव वयुनानि विद्वान्।
युयोध्यस्मज्जुहुराणमेनो भूयिष्ठां ते नम उक्तिं विधेम॥18॥

अर्थ

अग्ने- हे अग्निशरीरक परमात्मन! अथवा हे! ऊर्ध्वगतिप्रापक

1. कदाचिदुपकारेण इति पाठान्तरः।

परमात्मन्!(आप) **विश्वानि**- सभी **वयुनानि**- उपायोंको **विद्वान्**- जानने वाले हैं। **देव**- हे आराध्यदेव(आप) अपनी प्राप्ति (भगवत्प्राप्ति) के **जुहुराणम्**- प्रतिबन्धक **एनः**- पापोंको **अस्मत्**- हमसे **युयोधि**- अलग कर दीजिए। **राये**- अपनी प्राप्तिरूप धनके लिए **अस्मान्**- हमको **सुपथा**- सुन्दर अर्चिरादि मार्गसे **नय**- ले चलिए। हम **ते**- आपको **भूयिष्ठाम्**- बारम्बार **नम उक्तिं**- नमः शब्द **विधेम**- कहते हैं।

व्याख्या

परब्रह्म सबके आत्मा हैं, अग्निके भी आत्मा हैं। अग्नि परब्रह्मका शरीर है–**यस्याग्निश्शरीरम्**(बृ.उ. 3.7.9)। शरीरवाचक अग्नि शब्द अपर्यवसानवृत्तिसे अग्निरूप शरीर अर्थका बोध कराते हुए उसके अन्तरात्मा परमात्मा का बोध कराता है। इस प्रकार अग्निशब्दका अर्थ अग्निशरीरक परमात्मा होता है। अग्नि शब्दको साक्षात् परमात्माका बोधक होनेमें भी कोई विरोध नहीं है, ऐसा आचार्य जैमिनि मानते हैं–**साक्षादप्यविरोधं जैमिनिः** (ब्र.सू.1.2.29) अतः **अग्रं ऊर्ध्वं नयति प्रापयति इति अग्निः** इस व्युत्पत्तिके अनुसार ऊर्ध्वगति की प्राप्तिकरानेवाले परमात्माको अग्नि कहते हैं। यद्यपि **माया वयुनं ज्ञानम्** (नि. 3.9) इस निघण्टुवचनके अनुसार वयुन शब्द ज्ञानका वाचक है किन्तु यहाँ पर वह लक्षणासे उपायविशेषका बोधक है। श्रीभगवान् सर्वज्ञ हैं। वे धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष इन चतुर्विध पुरुषार्थके उपायोंको जानने वाले हैं, मोक्षके उपाय भक्तियोगको जानने वाले हैं। भक्तियोग के उपाय ज्ञानयोग और कर्मयोग को भी जाननेवाले हैं। हे ऊर्ध्वगतिकी प्राप्ति करानेवाले प्रभो! आप सभी उपायोंके वेत्ता हैं, इसलिए स्वप्राप्तिरूप मेरी मुक्तिके उपायके वेत्ता हैं, उसके प्रतिबन्धक शेष पापोंके भी वेत्ता हैं। मैंने जानकर अथवा बिना जाने जो भी पाप किए हैं, आप कृपा करके उन सभी पापोंको मुझ से दूर कर दीजिए। 'जुहुराणम्' का अर्थ होता है–कुटिल या प्रतिबन्धक। विहित कर्मका आचरण न करनेसे और निषिद्ध कर्मका आचरण करने से पाप होता है। पुण्य भी भगवत्प्राप्तिका प्रतिबन्धक होनेसे मुमुक्षुके प्रकरण में

पाप शब्दसे कहा जाता है। जिन कर्मोंका फल भोगा गया और जिन कर्मोंका प्रायश्चित्त किया गया तथा जो प्रारब्ध कर्म हैं। उन को छोड़कर पापपुण्यात्मक सभी कर्म ब्रह्मविद्यासे उसी प्रकार विनष्ट हो जाते हैं, जिस प्रकार अग्निमें प्रक्षिप्त सींकके अग्रभागमें स्थित शुष्क रुई जल जाती है- **तद् यथेषीकातूलम् अग्नौ प्रोतं प्रदूयेत एवं हास्य सर्वे पाप्मानः प्रदूयन्ते**(छां.उ.5.24.3)। ब्रह्मविद्या के आरम्भ से उत्तरकालमें प्रमाद से जिन कर्मोंका आचरण हो जाता है, उनसे ब्रह्मविद्यानिष्ठ पुरुष उसी प्रकार लिपायमान नहीं होता, जैसे जल से कमलका पत्ता लिपायमान नहीं होता- **यथा पुष्करपलाश आपो न श्लिष्यन्ते, एवमेवंविदि पापं कर्म न श्लिष्यत इति**(छां.उ. 4.14.3)। ब्रह्मज्ञ पुरुष पुण्यपापका त्याग कर देता है, उसके सुहृद पुण्यको ग्रहण करते हैं और शत्रु पापको ग्रहण करते हैं- **तत्सुकृतदुष्कृते धूनुते, तस्य प्रिया ज्ञातयः सुकृतमुपयन्ति अप्रिया दुष्कृतम्**(कौ.उ. 1.37)। ब्रह्मविद्याके प्रभावसे ज्ञानीके जितने पापपुण्यका विनाश एवं अश्लेष हुआ है, उनके सजातीय पुण्य-पापको श्रीभगवान्‌के द्वारा शत्रु और मित्रमें उत्पन्न करना ही शत्रु और मित्रके द्वारा ग्रहण करना है। सम्पूर्ण पापोंसे रहित होनेपर ही अर्चिरादि मार्ग प्राप्त होता है, इस मार्गका छान्दोग्योपनिषत्(4.15.5) और बृहदारण्यकोपनिषत्(5.10.1) इत्यादि में वर्णन मिलता है। इसे ही देवयान, देवपथ, ब्रह्मपथ और उत्तरायणमार्ग भी कहा जाता है। शास्त्रोंमें मोक्षके प्रकरणमें अर्चिरादि मार्गका ही वर्णन प्राप्त होता है। **न तस्य प्राणा उत्क्रामन्ति।**(बृ.उ. 4.4.6) यह श्रुति भी अर्चिरादिसे जानेका निषेध नहीं करती है क्योंकि इसमें 'तस्य' इस सर्वनामपद से '**योऽकामो निष्काम आप्तकामः**(बृ.उ. 4.4.6)। इस प्रकार पूर्वमें कथित आत्मज्ञानीका ही ग्रहण होता है, शरीरका नहीं। नटस्य शृणोति- नटसे सुनता है, इस प्रयोगके समान 'तस्य' यहाँ पर अपादानत्वरूप अर्थमें सम्बन्धकी विवक्षा करके षष्ठी विभक्ति हुई है। अतः यहाँ प्राणोंके सम्बन्धी रूपसे आत्मा कहा गया है, शरीर नहीं कहा गया। उक्त श्रुति का अर्थ है-आत्मासे प्राण उत्क्रमण नहीं करते हैं अर्थात् आत्मासे प्राण वियुक्त नहीं होते, वे आत्माके साथ अर्चिरादिसे जानेके लिए आत्मामें स्थित हो

जाते हैं। इसी कारण माध्यन्दिन शाखाके इसी प्रकरणमें **न तस्मात् प्राणा उत्क्रामन्ति।**(बृ.उ.मा.पा. 4.4.6) इस प्रकार स्पष्टरूपसे पञ्चमी विभक्ति सुनी जाती है। इस लोकसे अर्चिरादिमार्ग द्वारा जाने वाले ही मोक्ष प्राप्त करते हैं, इस लिए **अग्ने नय सुपथा राये अस्मान्** इस प्रकार अर्चिरादि मार्गसे मोक्षके लिए अप्राकृत भगवद्धामको प्राप्त करानेकी प्रार्थना की जा रही है। यहाँ धूमादि मार्गकी व्यावृत्तिके लिए सु विशेषण लगाया गया है। राये का अर्थ होता है–धनके लिए। भगवत्प्राप्तिरूप मोक्ष ही सुस्थिर, अनन्त, अलौकिक धन है।

पूर्वमें **युयोध्यस्मज्जुहुराणमेनः** इस प्रकार पापनिवृत्तिकी प्रार्थना की गयी क्योंकि **सर्वधर्मान् परित्यज्य मामेकं शरणं व्रज। अहं त्वा सर्वपापेभ्यो मोक्षयिष्यामि मा शुचः।।** (गी. 18.66)इस प्रकार स्वयं श्रीभगवान्ने आश्वासन दिया है, इस कारण ही अब **भूयिष्ठां ते नमः उक्तिं विधेम** इस प्रकार 'शरणागति' की जा रही है–

अभीष्टसाधक शरणागति

हे स्वामिन्! आप स्वाभाविक रूपसे सबके शेषी हैं, अवाप्तसमस्तकाम हैं। मैं अकिञ्चन हूँ, अनन्यगति हूँ। मेरा मरणकाल उपस्थित हो रहा है, अब मैं और कुछ नहीं कर सकता, आपको केवल पुनः पुनः नमस्कार वचन कहता हूँ- **भूयिष्ठां ते नम उक्तिं विधेम।** अन्तमें शरीरके असमर्थ होनेसे कायिक नमस्कार नहीं कर सकूँगा। यदि मन विक्षिप्त हुआ तो मानस नमस्कार भी नहीं कर सकूँगा। अतः अभी आपका स्मरण करते हुए 'नमः' उच्चारण करके पुनः पुनः नमस्कार करता हूँ। हे नाथ! आप प्रसन्न हो जाइए और **नाशयाम्यात्मभावस्थो ज्ञानदीपेन भास्वता।**(गी. 10.11) इस प्रकार की गयी अपनी प्रतिज्ञाके अनुसार मेरी बुद्धिवृत्तिका विषय बनकर सभी प्रतिबन्धकों की निवृत्ति करके अर्चिरादिसे स्वधाम ले जाइए। इस अभिप्रायसे की जानेवाली शरणागतिका सूचक **भूयिष्ठां ते नम उक्तिं विधेम** यह वचन है। **ततस्तं म्रियमाणं तु काष्ठपाषाण- सन्निभम्। अहं स्मरामि मद्भक्तं नयामि परमां गतिम्।।** (व.पु.) इस प्रकार श्रीभगवान्ने

अन्तकालमें भक्तका स्मरण करनेकी और उसे परमगति पर पहुँचानेकी जो प्रतिज्ञा की है, उसमें प्रथमके लिए प्रार्थना 17वें मन्त्रसे की गयी और द्वितीय मोक्षपदपर पहुँचाने की प्रार्थना 18वें मन्त्र से की गयी है।

ईशावास्योपनिषद्का तात्पर्य

ईशावास्यामिदं सर्वम् इसके द्वारा यह प्रतिपादन किया जाता है कि चेतनाऽचेतनात्मक सम्पूर्ण जगत्का निरुपाधिक(स्वाभाविक) नियन्तृत्व परमात्मामें ही है, इससे जगत् और परमात्मा में आत्मशरीरभाव सूचित होता है। 'ईश् ऐश्वर्ये' धातुसे ताच्छील्य अर्थ में कर्तामें क्विप् प्रत्यय करने पर 'ईट्' शब्द सिद्ध होता है। इससे परमात्माका सर्वजगत्नियमनकर्तृत्वरूप ऐश्वर्य कहा जाता है और 'वास्यम्' इस पदसे व्याप्ति कही जाती है। सर्वनियमनपूर्वक व्याप्ति एक परमात्मा की ही होती है। सभी जगत्के अन्दर प्रविष्ट होकर शासन करनेवाला सर्वात्मा ब्रह्म है- **अन्तः प्रविष्टः शास्ता जनानां सर्वात्मा**(तै.आ. 3.11.3) यहाँ आत्मा शब्द सभी शरीरोंसे सम्बन्ध रखनेवाले परमात्माका बोधक है, वह शरीरी है और सम्पूर्ण जगत् उनका शरीर है। आकाशकी सबमें व्याप्ति होती है किन्तु उसमें (आकाशमें) नियन्तृत्व नहीं होता, राजाका प्रजानियन्तृत्व होता है, किन्तु उसकी व्याप्ति नहीं होती। इस प्रकार परमात्माका ही सम्पूर्ण जगत्में व्याप्त होकर नियन्ता होना सिद्ध होता है। जिस चेतनका अपृथक्सिद्ध जो द्रव्य होता है, वह(द्रव्य) उस(चेतन) का शरीर होता है–**'यस्य चेतनस्य अपृथक्सिद्धं यद् द्रव्यं तत्तस्य शरीरम्'** यह शरीरका लक्षण है। इससे अपृथक्सिद्ध चेतनाचेतनात्मक जगत् परमात्माका शरीर सिद्ध होता है। इस प्रकार विशिष्टाद्वैत सिद्धान्तके प्रधान विषय आत्मशरीरभावका **ईशावास्यमिदं सर्वम्** इस वचनसे प्रतिपादन होता है। इससे जगत् परमात्माके अधीन सिद्ध होता है। **ईशा** इस तृतीयान्त पदके द्वारा जगन्नियन्ता सर्वात्मा ब्रह्म और **इदं सर्वम्** से उसका शरीरभूत चेतनाचेतन जगत् कहा गया। **भुञ्जीथाः मा गृधः** यहाँ दो क्रिया पदोंके द्वारा कर्ता जीव कहा गया। इस प्रकार यहाँ चेतनाऽचेतन तथा ब्रह्मरूप तत्त्वत्रयका प्रतिपादन होता है। **कुर्वन्नेवेह कर्माणि** इस द्वितीयमन्त्रके द्वारा आगे कही जानेवाली ब्रह्मविद्याके अङ्गरूपसे

नित्यनैमित्तिक कर्म अनुष्ठेय कहे गये हैं, इनके बन्धनजनकत्व की शंकाका **न कर्म लिप्यते नरे** इस वाक्यसे समाधान किया गया है। जैसे नित्य, नैमित्तिक कर्म ब्रह्मविद्याके अङ्ग होते हैं, वैसे ही काम्यकर्म भी निष्काम भावसे अनुष्ठित होने पर ब्रह्मविद्याके अङ्ग होते हैं, इसे सूचित करनेके लिए ही संहिता भागके अन्तमें ईशावास्योपनिषद् पढ़ी गयी है। ब्रह्मविद्यामें तथा उसके अङ्गभूत कर्ममें प्रवृत्त न होनेवाले मनुष्यकी निन्दापूर्वक अनर्थप्राप्ति तृतीयमन्त्रसे वर्णित है। चतुर्थ और पञ्चम मन्त्रसे ब्रह्मकी विविध विचित्र शक्तियों तथा देवताओंके द्वारा भी ब्रह्मके दुष्प्राप्यत्वका निरूपण किया जाता है। षष्ठमन्त्रसे सर्वभूतोंके अधिकरणरूपसे परमात्माके अनुसंधानका तथा सभी भूतोंमें उनकी विद्यमानतारूप व्याप्तिके अनुसन्धानका प्रतिपादन करके उसका ऐहिक फल कहकर सप्तम मन्त्रसे शोकमोहकी निवृत्तिका हेतु सर्वभूतान्तरात्मा ब्रह्मका अनुभव कहा गया है। प्रत्यगात्मस्वरूप और परमात्मस्वरूपका वर्णन अष्टम मन्त्रसे किया गया है तथा यहीं **व्यदधाच्छाश्वतीभ्यस्समाभ्यः** इस वाक्यसे जगत् के सत्यत्वका निरूपण किया गया है। केवल कर्मनिष्ठ और केवल विद्यानिष्ठ पुरुषको प्राप्त होनेवाले अनर्थका वर्णन नवम मन्त्रसे करके दशम मन्त्रसे मोक्षका साधन केवलकर्म और केवल विद्यासे भिन्न कहा गया है। एकादश मन्त्रसे कर्म और विद्याको अङ्गाङ्गिभावसे अनुष्ठेय कहा है। कर्मसे विद्योत्पत्तिके प्रतिबन्धककी निवृत्ति होती है और विद्यासे मोक्ष प्राप्त होता है। यहाँ **अविद्यया मृत्युं तीर्त्वा विद्ययाऽमृतमश्नुते** इस प्रकार विद्याके अङ्गरूपसे ही कर्मानुष्ठान विहित है, समसमुच्चय या विषमसमुच्चयकी दृष्टिसे विहित नहीं है।

अब प्रसङ्गानुसार मोक्षसाधन सम्बन्धी तीन प्रसिद्ध मत प्रस्तुत किये जाते हैं–

भास्करमत– मोक्षका साधन ज्ञान(ब्रह्मविद्या) और कर्मका समुच्चय है अर्थात् केवल ज्ञानसे मोक्ष नहीं होता और केवल कर्मसे भी मोक्ष नहीं होता, इसलिए **अविद्यया मृत्युं तीर्त्वा विद्ययाऽमृतमश्नुते**॥(ई.उ. 11) इस मन्त्रसे मोक्षके साधनरूपसे ही दोनोंका विधान किया जाता है।

शांकरमत-ब्रह्मविद्यासे ही मोक्ष होता है, कर्मसे नहीं। ब्रह्मविद्या और कर्मका साथ-साथ अनुष्ठान संभव नहीं है। अतः साथ-साथ अनुष्ठानके विधायक **अविद्यया मृत्युं तीर्त्वा विद्ययाऽमृतमश्नुते।** इस वाक्यमें विद्याशब्दसे ब्रह्मविद्याको ग्रहण न करके देवोपासनाका ग्रहण होता है और अमृतम् पदसे देवलोककी प्राप्तिरूप आपेक्षिक अमृत कहा जाता है, मोक्ष नहीं कहा जाता।

विशिष्टाद्वैत मत–उक्त दोनों मत श्रुतिसम्मत नहीं हैं। सर्वत्र मोक्ष(अमृत) प्राप्तिके हेतुरूपसे विद्या ही सुनी जाती है, कर्म नहीं सुना जाता, अतः भास्करमत निरस्त होता है। ब्रह्मजिज्ञासा उत्पन्न होते ही साक्षात्कार नहीं होता क्योंकि प्रतिबन्धक कर्म विद्यमान होते हैं। प्रतिबन्धकके रहते विद्यासे भी साक्षात्कार नहीं होता, अतः जिज्ञासा उत्पन्न होते ही कर्मोंका त्याग नहीं करना चाहिए। विद्याके अङ्गरूपसे वर्णाश्रमके अनुकूल यथाविहित नित्य-नैमित्तिक कर्मोंका अनुष्ठान करना चाहिए और अङ्गी विद्यामें भी प्रवृत्त होना चाहिए। कर्मका फल मृत्युतरण अर्थात् ब्रह्मविद्याकी उत्पत्तिके विरोधी पुण्य-पाप कर्मोंकी निवृत्ति है और विद्या का फल ब्रह्मप्राप्तिके विरोधी सभी कर्मोंकी निवृत्ति है, यही मोक्ष है। कर्मके अनुष्ठानसे जैसे-जैसे अन्तःकरण निर्मल होता है, वैसे-वैसे ब्रह्मविद्या उत्कर्षताको प्राप्त होती है और अन्तमें अपरोक्षात्मिका हो जाती है। यहाँ विद्या शब्दसे ब्रह्मविद्याको ही लिया जाता है, उसके अङ्गरूपसे ही कर्म विहित हैं, सम समुच्चय अथवा विषम समुच्चय की दृष्टिसे विहित नहीं और अमृत शब्दसे मुख्यमोक्ष को ही लिया जाता है। ब्रह्मविद्याका काम्यकर्मसे ही विरोध होता है, अङ्गभूत निष्काम कर्मसे विरोध नहीं होता। अतः शांकरमत भी निरस्त हो जाता है।

भास्कराचार्य ज्ञान, कर्मके समुच्चयको मोक्षका साधन मानते हैं और शंकराचार्य सर्वथा कर्मनिरपेक्ष ज्ञानको मोक्षका साधन मानते हैं। ये दोनों आचार्य समकालिक हैं और प्रखरतासे परस्परका खण्डन करते हैं, यह दोनोंके भाष्योंसे स्पष्ट है। शांकरभाष्यमें निरस्त ज्ञानकर्मसमुच्चय पक्ष भास्कर का ही पक्ष है।

जैसे नित्यनैमित्तिक कर्म ब्रह्मविद्याके अङ्ग होते हैं, वैसे ही काम्यकर्म भी निष्काम भावसे अनुष्ठित होनेपर उसके अङ्ग बन जाते हैं, इस विषयको सूचित करनेके लिए ही शुक्ल यजुर्वेद संहिताके अन्तमें ईशावास्योपनिषद्का पाठ है। ईशावास्यके मन्त्रोंके अध्ययनसे यह ज्ञात होता है कि मोक्षका साधन विद्या है और विद्या का अङ्ग कर्म है। कर्म अन्तःकरण की शुद्धिके द्वारा विद्याका निष्पादक होकर परम्परासे मोक्षका साधन होता है।

केवल निषिद्धकी निवृत्तिनिष्ठ और केवल विद्यानिष्ठ को प्राप्त होनेवाले अनर्थ, केवल निषिद्धनिवृत्ति और केवल विद्यासे भिन्न मोक्षका साधन तथा उन दोनोंके अङ्गाङ्गिभावसे अनुष्ठेय होने का वर्णन क्रमशः द्वादश, त्रयोदश और चतुर्दश मन्त्रोंसे किया गया है तथा यहीं निषिद्ध निवृत्तिसे विद्याके प्रतिबन्धक का अतिक्रमण और संभूत्यात्मक विद्यासे मोक्ष कहा गया है। पञ्चदश मन्त्रसे भगवद्दर्शनके आवरक विषय भोगकी वासनाओंको हटानेकी प्रार्थना करके षोडश मन्त्रसे दिव्यमङ्गलविग्रह विशिष्ट परमात्मस्वरूपके दर्शनकी प्रार्थना और **योऽसावसौ पुरुषः सोऽहमस्मि** इस प्रकार उपासनाके प्रकारका निर्देश किया गया है। सप्तदश मन्त्रसे मोक्षप्राप्तिके लिए भगवदनुग्रह की प्रार्थनाकी जाती है। यहाँ ज्ञानी भक्त परमात्माके द्वारा स्मरणीय है, यह भी प्रतिपादित है। अष्टादश मन्त्रसे मोक्षप्राप्तिके लिए अर्चिरादिमार्गसे भगवद्धाम ले जानेकी प्रार्थना की गयी है। **इति** ॥

प्रेरणा मातृसीतायाः प्रेरितेन तयैव च।
श्रीत्रिभुवनदासेन व्याख्या कृता मनोरमा।।1।।
कनकभवनाधीशः सीतया सह राजते।
समर्प्यते कृती रम्या तयोः पादारविन्दयोः।। 2।।

परिशिष्ट-1

मन्त्रानुक्रमणिका

परिशिष्ट-2

संकेताक्षरानुक्रमणिका

अ.गी.	अष्टावक्रगीता
अ.सू.	अष्टाध्यायीसूत्रम्
आ.भा.	आनन्दभाष्यम्
आ.भा.ता.	आचार्यभाष्यतात्पर्यम्
ई.उ.	ईशावास्योपनिषत्
ई.प्र.	ईशावास्यप्रकाशिका(ईशावास्योपनिषद: व्याख्या)
ऋ.सं.	ऋग्वेदसंहिता
क.उ.	कठोपनिषत्
के.उ.	केनोपनिषत्
कौ.उ.	कौषीतकी-उपनिषत्
गी.	गीता(श्रीमद्भगवद्गीता)
गी.रा.भा.	गीता-रामानुजभाष्यम्
छां.उ.	छान्दोग्योपनिषत्
जै.सू.	जैमिनिसूत्रम
तै.आ.	तैत्तिरीय-आरण्यकम्
तै.उ.	तैत्तिरीयोपनिषत्
तै.ना.उ.	तैत्तिरीयनारायणोपनिषत्
तै.ब्रा.	तैत्तिरीयब्राह्मणम्
तै.सं.	तैत्तिरीयसंहिता
द.स्मृ.	दक्षस्मृतिः

ना.प.उ.	नारदपरिव्राजकोपनिषत्
नि.	निघण्टुः
पा.यो.सू.	पातञ्जलयोगसूत्रम्
प्र.उ.	प्रश्नोपनिषत्
प्र.दी.	प्रदीपिका(ईशावास्योपनिषद्ः व्याख्या)
पू.मी.	पूर्वमीमांसा
बृ.उ.	बृहदारण्यकोपनिषत्
बृ.उ.मा.पा.	बृहदारण्यकोपनिषद्-माध्यान्दिनपाठः
बृ.उ.शां.भा.	बृहदारण्यकोपनिषद्-शांकरभाष्यम्
ब्र.सू.	ब्रह्मसूत्रम्
भा.	भागवतम् (श्रीमद्भागवतम्)
भा.प्र.	भावप्रकाशिका (श्रुतप्रकाशिव ायाः व्याख्या)
म.भा.	महाभाष्यम् (व्याकरणमहाभाष्यम्)
म.भा.उ.	महाभारत-उद्योगपर्व
म.भा.शां.	महाभारत-शान्तिपर्व
म.मु.	मन्वर्थमुक्तावली(मनुस्मृतेः टीका)
म.स्मृ.	मनुस्मृतिः
मु.उ.	मुण्डकोपनिषत्
मुक्ति.उ.	मुक्तिकोपनिषत्
य.सं.	यजुर्वेदसंहिता
रं.	रङ्गाचार्यभाष्यम्
र.पे.	रत्नपेटिका(न्यायसिद्धाञ्जनस्य व्याख्या)
र.र.	रहस्यरक्षाव्याख्या श्रीरङ्गगद्यस्य
रसा.	रसास्वादः(गीता रामानुजभाष्यस्य टिप्पणी)
रा.च.मा.	रामचरितमानस

व.पु.	वराहपुराणम्
वा.रा.	वाल्मीकीय-रामायणम्
वि.ध.पु.	विष्णुधर्मोत्तरपुराणम्
वि.पु.	विष्णुपुराणम्
वि.स.ना.	विष्णुसहस्रनामस्तोत्रम्
वे.भा.	वेदान्ताचार्यभाष्यम्
शां.भा.	शांकरभाष्यम्
श्रीभा.	श्रीभाष्यम्
श्रु.प्र.	श्रुतप्रकाशिका (श्रीभाष्यस्य व्याख्या)
श्वे.उ.	श्वेताश्वेतरोपनिषत्
सु.	सुबोधिनी (ईशावास्योपनिषदः व्याख्या)
सि.	सिद्धाञ्जनम् (सिद्धित्रयस्य व्याख्या)
सि.त्र.	सिद्धित्रयम्
सु.उ.	सुबालोपनिषत्

परिशिष्ट-3

प्रमाणानुक्रमणिका

परिशिष्ट-4

न्यायानुक्रमणिका

ग्रन्थानुक्रमणिका

1. **आचार्याणां वचनसंग्रह** : स्वामी शंकरानन्दसरस्वती, स्वर्गाश्रम, ऋषीकेश।
2. **ईशकेनकठप्रश्नमुण्डकमाण्डूक्यतैत्तिरीयैतरेयोपनिषद** : भगवत्छ्री-रामानन्दाचार्यप्रणीताभाष्योपेता: श्रीरामानन्दवेदान्तप्रचारकसमिति, अहमदाबाद, सन् 1969
3. **ईशादि नौ उपनिषद्** : हिन्दी व्याख्या सहित, हरिकृष्णदास गोयन्दका, गीताप्रेस गोरखपुर, वि.सं. 2040
4. **ईशाद्यष्टोत्तरशतोपनिषद:** चौखम्भा विद्याभवन, वाराणसी, सन् 1990
5. **ईशाद्यष्टोपनिषद्** : उपनिषत्प्रकाशिकाख्य टीकोपेता, प्रकाशक-श्रीरामप्रताप शास्त्री विद्याभूषण, मथुरा, सन् 1937
6. **ईशावास्योपनिषद्** : आनन्दगिरिकृतटीकासंवलितशांकरभाष्यसमेता, कैलास आश्रम, ऋषीकेश। सन् 1978
7. **ईशावास्योपनिषत्** : प्रतिपदार्थदीपिका-वेदान्ताचार्यभाष्य-प्रकाशिका-रङ्गाचार्यभाष्य-आनन्दभाष्य-सुबोधिन्याख्यव्याख्या-षट्कोपेता, संस्कृतसंशोधनसंसत्, मेलुकोटे, सन् 1991

8. **ईशावास्योपनिषद्** : विवेकसुखवर्धिनी व्याख्यासहिता, स्वामी हर्षानन्द पुरी, रामकृष्णमठ, बंगलौर। सन् 1997
9. **ईशावास्योपनिषद्** : सानुवाद शांकरभाष्यसहित, गीताप्रेस गोरखपुर, वि.सं. 2045
10. **ईशावास्योपनिषद्-भाष्यम्** : श्रीमन्निगमान्तमहादेशिकविरचितम् आचार्यभाष्यतात्पर्यसहितम् श्रीउत्तमूर वीरराघवाचार्य सेन्टिनेरी ट्रस्ट, चैन्नै, सन् 2004
11. **उपनिषद्भाष्यम्** : श्रीमदानन्दतीर्थविरचितम् उपनिषत्खण्डार्थेन च विभूषितम् पूर्णप्रज्ञसंशोधनमन्दिरम, पूर्णप्रज्ञविद्यापीठम्, बैङ्गलूरु- 28 सन् 1997
12. **उपासनादर्पण** : मलूकपीठ, वंशीवट, वृन्दावन, सन् 2010
13. **कठोपनिषत्** : प्रतिपदार्थदीपिका-प्रकाशिका-आनन्द- सुबोधिन्याख्य-भाष्यचतुष्टयोपेता संस्कृतसंशोधनसंसत्, मेलुकोटे, सन् 2002
14. **केनाद्युपनिषद्भाष्यम्** : श्रीरङ्गरामानुजमुनिविरचितम्, श्री उत्तमूर वीरराघवाचार्य, 25 नाथ मुनि वीथी, ति.नगर, मद्रास-17, सन् 2003
15. **केनोपनिषत्** : प्रतिपदार्थदीपिका-प्रकाशिका-आनन्द- सुबोधिन्याख्य-भाष्यचतुष्टयोपेता संस्कृतसंशोधनसंसत्, मेलुकोटे, सन् 1986
16. **गद्यत्रयम्** : श्रीरामानुजाचार्यविरचितम्, श्रुतप्रकाशिकाभाष्येण रहस्यरक्षया च समेतम्, संस्कृत संशोधन संसत् मेलुकोटे, सन् 2009
17. **गीता-संग्रह** : गीताप्रेस गोरखपुर, वि.सं. 2070
18. **छान्दोग्योपनिषत्** : प्रतिपदार्थदीपिका-प्रकाशिका-आनन्द-सुबोधिन्याख्यभाष्यचतुष्टयोपेता संस्कृतसंशोधनसंसत्, मेलुकोटे
19. **छान्दोग्योपनिषत्** : सपरिष्कारभाष्योपेता, उत्तमूर वीरराघवाचार्य, चेन्नई, सन् 2000
20. **तत्त्वत्रयम्** : श्रीलोकाचार्यप्रणीतम् भाष्योपेतम्, सम्पादकः श्रीमधुसूदनाचार्यः, श्रीलक्ष्मीवेंकटेशमन्दिर, श्रीवैष्णव-टोला, पो. त्रिवेणी, जि. नवलपरासी, नेपाल, वि.सं. 2043
21. **तत्त्वमुक्ताकलाप** : श्रीवरदाचार्यकृतसर्वङ्कषाव्याख्यासहितः,

आर्षग्रन्थप्रकाशन, 2842, पम्पापति रोड, जय नगर, मैसूर, सन् 2004

22. **तैत्तिरीयोपनिषत्** : प्रतिपदार्थदीपिका-मिताक्षरा-प्रकाशिका-कूरनारायणीय-आनन्द-सुबोधिन्याख्य- व्याख्याषट्कोपेता, संस्कृत संशोधन संसत्, मेलुकोटे

23. **न्यायकोशः** : महामहोपाध्यायभीमाचार्येणविरचितः, भाण्डारकर-प्राच्यविद्या संशोधनमन्दिरम्, पुणे, सन् 1996

24. **न्यायसिद्धाञ्जनम्** : श्रीवेंकटनाथविरचितम् भाषानुवादसहितम्, अनुवादक-पं. नीलमेघाचार्य, सम्पूर्णानन्द संस्कृतविश्वविद्यालय, वाराणसी, सन् 1996

25. **न्यायसिद्धाञ्जनम्** : श्रीवेंकटनाथविरचितम्, रत्नपेटिकारङ्ग-रामानुजीयसमेतम्, उभयवेदान्त ग्रन्थ माला, टी. नगर, चेन्नई, सन् 1976

26. **परमपदसोपान** : श्रीवेंकटनाथविरचित, हिन्दी व्याख्याकार- पं. नीलमेघाचार्य, श्रीरंगनाथप्रेस वृन्दावन, सन् 1995

27. **पातञ्जलयोगदर्शन** : हिन्दी टीका सहित, टीकाकार- श्रीहरिकृष्णदास गोयन्दका, गीताप्रेस गोरखपुर, वि.सं. 2045

28. **प्रश्नोपनिषत्** : प्रतिपदार्थदीपिका- प्रकाशिका- आनन्द-सुबोधिन्याख्य- भाष्यचतुष्टयोपेता संस्कृतसंशोधनसंसत्, मेलुकोटे, सन् 2002

29. **बृहदारण्यकोपनिषत् (द्वितीयो भागः)** : आनन्दगिरिकृतटीका-संवलितशांकरभाष्यसमेता, कैलास आश्रम, ऋषीकेश, वि.सं. 2036

30. **बृहदारण्यकोपनिषत्** : प्रतिपदार्थदीपिका-प्रकाशिका-आनन्द-सुबोधिन्याख्यभाष्यचतुष्टयोपेता संस्कृतसंशोधनसंसत्, मेलुकोटे, सन् 2009

31. **बृहदारण्यकोपनिषद्भाष्यम्** : श्रीरङ्गरामानुजमुनिविरचितम्, श्री उत्तमूर वीरराघवाचार्येण सम्पादितम्, श्रीतिरुमल-तिरुपतिदेवस्थानम्, तिरुपति, सन् 1953

32. **ब्रह्मसूत्रशांकरभाष्यम्** : हिन्दीव्याख्योपेतम्, व्याख्याकार स्वामी श्रीहनुमानदास षट्शास्त्री, चौखम्बा विद्याभवन, वाराणसी।
33. **ब्रह्मसूत्रश्रीभाष्यम् (भाग 1-2)** : श्रीभगवद्रामानुजविरचितम्, श्रीविशिष्टाद्वैतप्रचारिणीसभा, मद्रास, सन् 1995
34. **मनुस्मृति** : भाषाटीकासहिता, टीकाकार पं. अयोध्याप्रसाद भार्गव, भार्गव पुस्तकालय, गायघाट, बनारस, वि.सं. 1995
35. **मनुस्मृति** : मन्वर्थमुक्तावलीसहिता, मणिलालदेसाई गुजराती मुद्रणालय, मुम्बई, सन् 1913
36. **महाभारत (तृतीयखण्ड)**: हिन्दीव्याख्या सहित, गीताप्रेस गोरखपुर, वि.सं. 2053
37. **महाभारत (पञ्चमखण्ड)**: हिन्दीव्याख्या सहित, गीताप्रेस गोरखपुर, वि.सं. 2053
38. **मीमांसाकोष (चतुर्थभागः)**: सम्पादकः केवलानन्दसरस्वती, श्रीसद्गुरु पब्लिकेशन, इण्डियन बुक सेन्टर, दिल्ली, सन् 1992
39. **मीमांसान्यायप्रकाशः** : आपदेवप्रणीतः तस्य व्याख्यानं मीमांसा-सुधास्वादः, उत्तमूर श्रीवीरराघवाचार्यमहादेशिकैः विरचितः, श्री उत्तमूर वीरराघवाचार्य सेन्टिनेरी ट्रस्ट, चेन्नै, सन् 2003
40. **मीमांसान्यायप्रकाश** : श्रीमदापदेवकृतः सारविवेचनीव्याख्यासंवलितः चौखम्बा संस्कृतसंस्थान, वाराणसी, वि.सं. 2037
41. **मीमांसान्यायप्रकाशः**: श्रीमदापदेवविरचितः भाट्टालंकारटीकायुतः चौखम्बा संस्कृत सीरिज आफिस, वाराणसी, सन् 1919
42. **मीमांसा परिभाषा** : श्रीकृष्णयज्वाविरचिता, आशुबोधिनी-संस्कृतहिन्दीव्याख्यापेता, कृष्णदास अकादमी, वाराणसी, सन् 1994
43. **मीमांसाशाबरभाष्यम्** : हिन्दीव्याख्यासहितम्, व्याख्याकार-युधिष्ठिरमीमासकः रामलालकपूर ट्रस्ट, बहालगढ़, हरियाणा, वि.सं. 2041
44. **मुण्डकोपनिषत्** : प्रतिपदार्थदीपिका-प्रकाशिका-आनन्द-सुबोधिन्याख्य-भाष्यचतुष्टयोपेता, संस्कृत संशोधन संसत्, मेलुकोटे, सन् 2005

45. **यजुर्वेदसंहिता** : नागप्रकाशक 112/यू. ए. जवाहर नगर, दिल्ली, सन् 1997

46. **रामायणम्** (भाग 1-7) : टीकात्रयेणोपस्कृतम् परिमल पब्लिकेशन, दिल्ली, सन् 1991

47. **लघुसिद्धान्तकौमुदी (भाग 3)** : भैमीव्याख्या, भैमी प्रकाशन, दिल्ली, सन् 1980

48. **विशिष्टाद्वैतकोशः (तृतीय सम्पुटः)** : संस्कृत संशोधन संसत्, मेलुकोटे, सन् 1989

49. **विशिष्टाद्वैतकोशः (पञ्चमः सम्पुटः)** : संस्कृत संशोधन संसत्, मेलुकोटे, सन् 1996

50. **विशिष्टाद्वैतकोशः (अष्टमः सम्पुटः)** : संस्कृत संशोधन संसत्, मेलुकोटे, सन् 2008

51. **विशिष्टाद्वैत वेदान्त का विस्तृत विवेचन** : स्वामी त्रिभुवनदास, चौखम्बा संस्कृतप्रतिष्ठान, दिल्ली सन् 2013

52. **विष्णुसहस्रनाम** : गीताप्रेस गोरखपुर, वि.सं. 2067

53. **वेदान्तसार** : सदानन्दप्रणीतः हिन्दीव्याख्यासहितः व्याख्याकारः आचार्यबदरीनाथशुक्लः मोतीलाल बनारसीदास, दिल्ली, सन् 1993

54. **शांकरवेदान्तकोशः** : सम्पूर्णानन्दसंस्कृतविश्वविद्यालयः, वाराणसी, सन् 1998

55. **शास्त्रदीपिका** : श्रीपार्थसारथिमिश्रप्रणीता, सोमनाथप्रणीतमयूखमालिका व्याख्यासहिता, कृष्णदास अकादमी, वाराणसी, सन् 1988

56. **श्रीभाष्यम् (चतुर्थसंपुटः)** : भगवद्रामानुजविरचितम्, संस्कृत संशोधन संसत्, मेलुकोटे, सन् 1991

57. **श्रीभाष्यम् (मूलमात्रम्)**: श्रीमद्रामानुजविरचितम्, संस्कृत संशोधन संसत्, मेलुकोटे, सन् 1995

58. **श्रीमद्भगवद्गीता** : तात्पर्यचन्द्रिकासहितम् रसास्वादाख्यटिप्पणीसहितं च रामानुजभाष्यम्, उत्तमूर वीरराघवाचार्य सेनेटरी ट्रस्ट नाथमुनि स्ट्रीट, टी.नगर, चेन्नई, सन् 2004

59. **श्रीमद्भगवद्गीता** : तात्पर्यचन्द्रिकासहितम् रामानुजभाष्यम्, श्रीरङ्गनाथप्रेस, वृन्दावन, सन् 1976

60. **श्रीमद्भगवद्गीता** : शंकरानन्दी व्याख्यासहिता, चौखम्भा सुरभारती प्रकाशन, वाराणसी, सन् 1989

61. **श्रीमद्भगवद्गीता** : शांकरभाष्याद्येकादशटीकोपेता, परिमल पब्लिकेशन्स, दिल्ली, सन् 2000

62. **श्रीमद्भगवद्गीता** : श्रीमच्छांकरभाष्योपेतानन्दगिरिव्याख्यायुता तथा नीलकण्ठीभाष्योत्कर्षदीपिका-श्रीधरीयसुबोधिनी-अभिनवगुप्ताचार्य-व्याख्यागूढार्थदीपिकाव्याख्यासहिता इण्डोलोजिकल बुक हाउस, वाराणसी, सन् 1984

63. **श्रीमद्भगवद्गीता** : श्रीरामानुजभाष्य हिन्दी व्याख्या सहित, गीताप्रेस गोरखपुर, वि.सं. 2050

64. **श्रीमद्भागवतमहापुराण** : हिन्दीव्याख्या सहित, गीताप्रेस गोरखपुर, वि.सं. 2045

65. **श्रीमद्वाल्मीकीयरामायण** : हिन्दीव्याख्या सहित, गीताप्रेस गोरखपुर, वि.सं. 2045

66. **श्रीरामचरितमानस** : गीताप्रेस गोरखपुर, वि.सं. 2047

67. **श्वेताश्वतरोपनिषत्** : श्रीरङ्गरामानुजविरचितप्रकाशिका-श्रीरामानन्दमुनि विरचित आनन्दभाष्याख्य-भाष्यद्वयोपेता, संस्कृत संशोधन संसत्, लुकोटे, सन् 2012

68. **सिद्धित्रयम्** : सिद्धाञ्जनव्याख्योपेतम्, कोसलेश सदन, अयोध्या, सन् 1980

69. **स्मृतिसन्दर्भः (प्रथमो भागः)** : नागप्रकाशक 112/यू.ए.जवाहर नगर, दिल्ली, सन् 1998

70. **स्मृतिसन्दर्भः (सप्तमो भागः)** : नागप्रकाशक 112/यू. ए. जवाहर नगर, दिल्ली, सन् 1998

ईशावास्योपनिषद् की तत्त्वविवेचनी हिन्दी व्याख्या प्रस्तुत है। इसमें मन्त्र के पश्चात् अन्वयके क्रमसे मन्त्रके पदोंका अर्थ किया गया है, जिससे सामान्य पाठकों को भी मन्त्रार्थ अत्यन्त सरलता से हृदयंगम हो सके। अर्थ के बाद गम्भीर, विस्तृत और मर्मस्पर्शी व्याख्या सन्निविष्ट है। विषय वस्तु को अवगत कराने के लिये इसे यथोचित्त शीर्षकोंसे सुसज्जित किया गया है और आवश्यक स्थल पर टिप्पणी भी प्रस्तुत है। इसके अध्ययन से विषय अनायास ही हृद्रयपटल पर अंकित होता चला जाता है। पाठकगण इनका स्वयं अनुभव करेगें। व्याख्या में आये उद्दहरणो (Quotation) के आकर स्थल का निर्देश तथा अन्य उपयोगी परिशिष्टों से विभुषित होने के कारण यह शोधकत्ताओं के लिये भी संग्रहाय है।

ईशावास्योपनिषत् की यह तत्त्वविवेचनी व्याख्या हस्तमलक के समान विषय वस्तुका बोध कराने वाली है। इसके अध्ययन से जिज्ञासु पाठकों का महान् उपकार होगा।

स्वामी मधुसूदनाचार्य वेदान्ती
भूतपूर्व वेदान्त विभागाध्यक्ष
श्रीरङ्गलक्ष्मी आ. सं. महाविद्यालय
वृन्दावन (उ.प्र.)

यह उपनिषदों की विस्तृत हिन्दी व्याख्या है, इसके द्वारा अधिक से अधिक लोग लाभान्वित होंगे।

पूज्य महान्त श्रीनृत्यगोपाल दास
अयोध्या

प्रस्तुत व्याख्या औपनिषद्-सिद्धान्तों का सूक्ष्मतासे प्रतिपादन करती है। इसके प्रकाशनसे परम प्रसन्नता हो रही है।

श्रीमलूक पीठाधीश्वर श्रीराजेंद्रदास
वृन्दावन

ईशावास्योपनिषदं व्याख्यानं राष्ट्रभाषया, स्वामिभी रचितं समेषां मङ्गलाय वै।

पण्डितवर्यः भा. व. श्रीरामप्रियः
(मेलुकोटे, कर्नाटक)
निदेशक
श्रीस्वामिनारायणविश्वविद्याप्रतिष्ठानम्
छारोडी, अहमदाबाद

व्याख्याकार की अन्य कृतियाँ

1. विशिष्टाद्वैत वेदान्त का विस्तृत विवेचन (प्रकाशित)
2. केनोपनिषद् -तत्त्वविवेचनी हिन्दी व्याख्या (अप्रकाशित)
3. कठोपनिषद् -तत्त्वविवेचनी हिन्दी व्याख्या (अप्रकाशित)

चौखम्बा संस्कृत प्रतिष्ठान
दिल्ली